

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 10 अंक 1

जुलाई-सितम्बर 2012

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	\$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	\$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए राजेश भार्गव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati@yahoo.com

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. 'गोरा' पर व्यापक चर्चा से क्यों बचा जा रहा है? रामेश्वर मिश्र पंकज	9
2. हिन्दी उपन्यासों में भारतीयता नन्दकिशोर आचार्य	27
3. हिन्दी वर्तनी की समस्याएँ धर्मदेव तिवारी	33
4. हिन्दी वर्तनी की एकरूपता के व्याकरणिक आधार रवीन्द्र कुमार पाठक	42
5. ऋग्वैदिक ग्रह-नक्षत्रों से संबद्ध कुछ तथ्य एवं मिथक राजीव रंजन उपाध्याय	62
6. सम्पूर्ण क्रांतिलोकतंत्र और भ्रष्टाचार नरेश कुमार अम्बष्ट	72
7. कविता के आयाम कृपाशंकर सिंह तथा जगन सिंह	78
8. मीडिया नियमन हो पाएगा क्या? संजय कुमार	87

9. सूफी सन्त डॉ. बीनल जी घेटिया	91
10. विवेक-जनित पावनता की सुगंध कृष्णदत्त पालीवाल	96
11. भाषा और संस्कृति की साझेदारी महेश दुबे	109
12. ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान का समन्वय मृत्युंजय उपाध्याय	118
पाठकीय प्रतिक्रिया	122
प्राप्ति-स्वीकार	126

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

क्या हम सीधी राह नहीं चल सकते?

सुबह होते ही आप किसी समाचार पत्र को पढ़ना प्रारंभ करते हैं, तो प्रायः ही ऐसे समाचारों पर दृष्टि पड़ती है जो आश्वस्त नहीं करते, मन विचलित होता है, क्रोध उपजता है। किन्तु जब बार बार ऐसा होता है तो लगता है कि हम लाचार हैं, हम कुछ कर नहीं सकते; एक विचित्र तरह की खीझ हमें भीतर से तोड़ने लगती है। हम मानने लगते हैं कि ऐसा ही होता है, ऐसा ही होता रहेगा; हम कुछ कर नहीं सकते।

आज देश में ऐसा बहुत कुछ गलत हो रहा है, जिसके सूत्र कहीं न कहीं हमारी राजनीति से जुड़े हैं। ऊँचाई पर पहुँचकर राजनीति के सूत्र संचालन कर रहे बौनों बौने ही नहीं, मनोरोगियोंकी संख्या काफी बढ़ गयी है। आखिर भूख की, धन-लिप्सा की भी, एक सीमा होनी चाहिए। निर्लज्जता की भी।

पहले सरकारी धन की लूट कुछ लाख तक सीमित रहा करती थी। बढ़ते-बढ़ते यह लाखों करोड़ तक पहुँच गयी है। फिर राजनीतिक अपराधी ही नहीं, सत्ता-तंत्र में बैठे अपराधी पदाधिकारी तथा बाहर के अपराधी भी इस लूट में बढ़-चढ़कर सहभागिता निभा रहे हैं। और जब किसी सांविधानिक पद पर बैठा कोई व्यक्ति इस लूट की तरफ इंगित करता है, तो उच्च पदों पर बैठे आकाओं के चाटुकार जोर जोर से भूँकना, गाली गलौज करना शुरू कर देते हैं। वस्तुतः भारतीय राजनीति में चाटुकार कभी भी इतने सशक्त नहीं हुए थे, जितने आज हैं।

इस देश की राजनीति इतनी नीचे गिर गयी है कि सत्ता-प्राप्ति में सहायक बनने पर देश के शत्रुओं को भी लाकर बसा सकती है, उन्हें नागरिक बनवा सकती है, उन्हें सत्ता में सहभागी बना सकती है; चाहे उसकी कीमत देश को आन्तरिक तथा बाहरी सुरक्षा के खतरे उठाकर, अपनी सीमाओं को तरल बनाकर, नागरिकों का आन्तरिक विस्थापन करा कर, साम्प्रदायिक सौहार्द बिगाड़कर, चुकाना पड़े। इस देश की राजनीति करोड़ों विदेशियों को देशी तथा लाखों देशियों को विदेशी बना सकती है। दंगे कराना उसके बाएँ हाथ का खेल है। किसी परिवार की धरोहर राजनीतिक दल में चाचा भतीजा लड़ पड़ें तो देश के किसी हिस्से के लोगों को खदेड़ने का अभियान शुरू करा दो, उन्हें परमिट देने का प्रस्ताव कर दो। यदि लूट का खुलासा हो जाय तो समाज

के दो अंगों को लड़ने का उपक्रम शुरू करा दो, ताकि लूट से लोगों का ध्यान हट जाए। ऐसे तिकड़मों का अन्त नहीं।

इस देश में राजनीति करनेवालों तथा राजनीति की आकांक्षा पाल रखे नागरिक समाज के व्यक्तियों ने मिल-बैठकर राष्ट्र एवं समाज की समस्याओं पर विचार करने की कार्य-संस्कृति का परित्याग कर दिया है। राजनीतिक दल मिल बैठकर बात नहीं कर सकते; सरकार में बैठे लोग तथा विरोध में बैठे लोग समस्याओं पर एकजुट होकर विचार नहीं कर सकते। संसद के कार्य दिन लगातार घटते जा रहे हैं। ऊँचे पदों पर बैठा हर व्यक्ति उद्वेलित है। ऐसे में एक छोटी-सी घटना प्रायः ही भयंकर रूप ले लेती है। अभी नीतीश कुमार एवं शिव-सेना के बीच क्या हुआ? मुम्बई पुलिस ने मुम्बई की 11 अगस्त की घटनाओं, आजाद मैदान में अमर जवान ज्योति तोड़ने के आरोपी अब्दुल कादिर अंसारी को सीतामढ़ी में पकड़ा। पकड़ना गलत नहीं था, क्योंकि वह मुम्बई में रह रहा था। लेकिन आपराधिक दण्ड संहिता की धारा 80 के अनुसार उसे किसी स्थानीय दण्डाधिकारी के पास ले जाया जाना चाहिए था, जो न हुआ। फिर नीतीश कुमार ने आपा खोकर कुछ गलत भाषा का प्रयोग किया; राज ठाकरे ने गरजकर सभी बिहारियों को मुम्बई से बाहर निकालने की धमकी दे डाली, यदि बिहार सरकार महाराष्ट्र के आपराधियों को पकड़ने में बाधा डालती रही। उद्धव ठाकरे ने मुम्बई में कार्यरत बिहारियों को कार्य-परमिट देने की बात कह डाली। वे भूल गये कि भारत के किसी नागरिक को देश में कहीं भी जाने, रहने, काम करने का अधिकार है। वैसे नीतीश कुमार एवं राज ठाकरे के मध्य जो हुआ, वह कोई नयी बात नहीं है। यह हमारी राजनीतिक संस्कृति का अंग बन गया है। परस्पर निन्दा की भाषा बोलना, झूठ बोलना, निरर्थक वाद-विवाद करना, एक ही साँस में परस्पर विरोधी बातें कहना, अपने से ताकतवर की चापलूसी, कमजोर को चोट पहुँचानेवाली बातें तथा झूठी आत्म-प्रशंसा की नेताओं को आदत पड़ गयी है। फिर उनका मुखैटा उनकी पहचान में बाधक बनता है तथा उनकी कथनी एवं करनी के विभेद को उजागर नहीं होने देता। इनसे सामाजिक सुचिता बाधित होती है।

देश के उच्चतम न्यायालय ने अपने एक फैसले में पदोन्नति में आरक्षण के अधिकार को अस्वीकार कर दिया है। यह बात भी समाचार पत्रों के माध्यम से छनकर सामने आयी है कि प्रशासन के उच्चतम 149 पदों पर बैठे अधिकारियों में अनुसूचित जाति का एक भी व्यक्ति नहीं है। अन्य ऊँचे पदों की भी कमोबेश यही स्थिति है। ऐसे में सरकार ने उच्च पदों पर पदोन्नति के लिए आरक्षण की व्यवस्था के लिए संविधान संशोधन का विधेयक राज्य सभा में ला दिया। सवाल है कि पिछले साठ से अधिक वर्षों से प्रारंभिक बहाली में आरक्षण लागू है। फिर अनुसूचित जाति के

पदाधिकारी की वरीयता जब प्रारंभिक पदोन्नति के समय ही प्रवीणता के चलते बाधित हो रही हो तो प्रवीणता बढ़ाने के प्रयास द्वारा या प्रशासनिक व्यवस्था द्वारा ऐसी व्यवस्था की जा सकती थी कि उनमें से अधिकांश की पदोन्नति जारी रहे। अनुसूचित जाति के लोग जो अधिक आयु में सेवा में आते हैं उसका उपाय ढूँढना चाहिए। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। सरकार चलानेवाले छः दशक तक सोये रहे। प्रशासनिक व्यवस्था द्वारा समस्या का निदान नहीं निकालकर अब वे संविधान बदलने लगे। प्रश्न है कि क्या हम सीधी राह नहीं चल सकते? क्या जिस रोग को दवा से ठीक किया जा सकता है, उसे तबतक बिगड़ने देते रहेंगे जबतक शल्य चिकित्सा आवश्यक न हो जाय?

आजकल हमारी सरकारें खैरात बाँटने का काम बढ़-चढ़कर रही हैं। ऐसा विशुद्ध राजनीतिक लाभ लेने के लिए किया जाता है। इससे समाज को कोई ठोस लाभ नहीं पहुँचता। वस्तुतः सरकार खैरात न बाँटकर ऐसी योजनाएँ चलाती जिससे समाज के लोग आर्थिक रूप से सशक्त हो पाते तो देश को स्थायी लाभ पहुँचता, विकास एवं मौलिक संरचना के लिए पैसे बचते, मँहगायी घटती। महात्मा गाँधी राष्ट्रीय रोजगार गारंटी योजना का अधिकांश पैसा भ्रष्टाचार द्वारा गलत लोगों के पास चला जाता है। ऐसी अन्य दूसरी योजनाएँ भी हैं, जिनका लाभ लोगों को कम ही मिलता है; दलों को अस्थायी राजनीतिक लाभ भले मिल जाय। स्पष्टतः ऐसी सभी योजनाओं पर पुनर्विचार करके नीतिगत परिवर्तन लाया जाना चाहिए।

अभी कुछ समय पहले, दो केन्द्रीय मंत्रियों के वक्तव्य आए थे, जिसे समाचार माध्यमों ने विवादास्पद बनाकर उछाला था। वस्तुतः दोनों के ही वक्तव्य सही थे। यह सही है कि गेहूँ की कीमत एक रुपया भी बढ़ती है तो मध्यम वर्ग विरोध प्रकट करता है, जैसा कि चिदम्बरम साहब ने कहा था। उसी प्रकार मँहगाई बढ़ने का एक पक्ष यह भी है कि उसका लाभ किसान को भी पहुँचता है, जो सबसे अधिक पीड़ित है। मँहगाई के इस पक्ष की चर्चा करने पर केन्द्रीय मंत्री बेनी प्रसाद वर्मा की भी प्रेस ने काफी खिंचाई की थी। वस्तुतः दोनों मंत्रियों की बातें सही थीं। वस्तुतः शहरी मध्यम वर्ग शोरगुल बहुत करता है, अन्न उसे सस्ता ही चाहिए, भले ही किसान गरीबी से त्रस्त होकर आत्म-हत्या करता रहे। अन्न के दामों की हल्की बढ़ोतरी उसे कचोटती है, अन्य वस्तुओं की नहीं।

ममता बनर्जी रेलवे किराया की बढ़ोतरी का विरोध करती हैं, भले ही रखरखाव की कमी से दुर्घटनाएँ होती रहें, रेलवे समपार पर आदमी न रहने से रेल-बस टक्कर में हजारों लोग प्रति वर्ष मरते रहें। फिर उन्हें रेलवे के काम से हटकर अन्य लोक-लुभावन कार्यों के लिए पैसा चाहिए। समय आ गया है कि राजनीतिक ठगी की

खैरात आदि लोकलुभावनी योजनाओं का विरोध किया जाए। पिछले दिनों इस देश में दो आन्दोलन चले, अन्ना हजारे का भ्रष्टाचार निवारण के लिए लोकपाल की नियुक्ति के लिए एवं बाबा रामदेव का विदेशी बैंकों से काला धन देश में लाने के लिए। दोनों अच्छे समाजसेवी रहे हैं; देश में उनकी पैठ तथा लोगों का उन पर विश्वास भी रहा है। किन्तु रुझान दोनों की ही राजनीति की तरफ भी रही। अन्ना हजारे एवं उनकी अनुयायी अरविन्द केजरीवाल ने तो राजनीतिक दल बनाने का मन भी बना लिया है, प्रश्न उठता है कि आप अपने राजनीतिक दल के लिए हजारों ईमानदार एवं अच्छी सोचवाले लोग कहाँ से लाएँगे? और नहीं तो आपका दल अन्य दलों से अलग कैसे होगा? फिर यदि अन्ना हजारे एवं बाबा रामदेव, लगभग समान उद्देश्यों के लिए संघर्ष करते हुए भी एकजुट नहीं रह पाए, अन्ना हजारे अपने कुछ ही अनुआइयों को एकजुट नहीं रख पाए तो फिर वे हजारों लोगों को कैसे एक साथ रख पाएँगे? स्पष्टतः जो कुछ हो रहा है, वह आन्दोलन के अन्त का सूचक है।

वस्तुतः सार्थक बदलाव का एक ही रास्ता हो सकता है कि जनता को जगाया जाए, किसी भी गलत बात के विरुद्ध जनमत तैयार किया जाए। फिर तो बदलाव मत-पत्रों द्वारा भी आ सकता है। किन्तु इतने बड़े देश में मूल्यांकी पुनर्स्थापना द्वारा स्व-नियंत्रित मानव एवं समाज भी बनाया जाना चाहिए, जिसके लिए शिक्षा में अपेक्षित बदलाव लाया जाना आवश्यक है। इससे बदलाव में स्थायित्व आएगा। काम कठिन है, लेकिन हमें ऐसा ही करना पड़ेगा।

ब्रज बिहारी कुमार

‘गोरा’ पर व्यापक चर्चा से क्यों बचा जा रहा है?

रामेश्वर मिश्र पंकज*

कविगुरु रवीन्द्रनाथ की डेढ़ सौवीं जयन्ती चल रही है। यह उनकी अमरकृति ‘गीतांजलि’ के प्रकाशन का शताब्दी वर्ष है। उनकी एक अन्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना ‘गोरा’ के प्रकाशन का भी यह शताब्दी वर्ष है। परन्तु हिन्दी में गोरा या गीतांजलि किसी पर वैसी विस्तृत चर्चा नहीं हुई जैसी होनी चाहिए। जबकि हिन्दी में इन महान कृतियों के श्रेष्ठ अनुवाद सुलभ हैं। ‘गोरा’ का अनुवाद तो सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय जी ने सीधे बांग्ला से किया था। अतः स्वाभाविक है कि हिन्दी में भी ‘गोरा’ मूल कृति की सभी विशेषताएँ सँजोएँ हैभाषिक, शिल्पगत, वैचारिक सभी।

अज्ञेयजी ने जब मूल बांग्ला से इसके हिन्दी अनुवाद का निश्चय किया, तो उसके पीछे कारण भी ये सभी थे रवीन्द्रनाथ ठाकुर के वैचारिक विस्तार और गहराई को हिन्दी पाठकों के समक्ष लाना चाहते थे, उस सांस्कृतिक-दार्शनिक आलोड़न-विलोड़न को भी जो इस रचना के मूल में है, साथ ही शिल्पगत सौन्दर्य और भाषा के अद्वितीय सौन्दर्य को भी। यही कारण है कि अनूदित रूप में भी उपन्यास की सबसे बड़ी शक्ति इसकी भाषा और शिल्प ही है। इसके रसमय वर्णन पाठक के चित्त में जीवन्त दृश्यों की सृष्टि कर देते हैं। इतने भावपूर्ण, सम्यक् और प्राणवान वर्णन समकालीन हिन्दी साहित्य में विरल ही हैं। उपन्यास से सैकड़ों उद्धरण ऐसे दिए जा सकते हैं, जो अपनी भाषा और बिम्बों के सौन्दर्य तथा विचारों की अद्वितीयता के कारण अविस्मरणीय हैं।

कथा की दृष्टि से उपन्यास भारत की तत्कालीन बंगभाषी समाज के शिक्षित मध्यवर्ग एवं उच्च मध्यवर्ग की तात्कालिक मनोदशा, समाज-व्यवहार और बौद्धिक आकांक्षाओं तथा आध्यात्मिक तलाश को चित्रित करता है। उपन्यास में चित्रित यह बंगीय भद्रलोक न तो भारतीय धर्मशास्त्रों का अधिकारी ज्ञाता है, न ही भारत के

*निदेशक, धर्मपाल शोधपीठ, भोपाल, बी-12 आकृति गार्डन, भोपाल-3

इतिहास का, न ही ब्रिटिश इतिहास का, न ही क्रिश्चियन दर्शन का और न ही विश्व इतिहास का। उन दिनों बंगाल में पत्र-पत्रिकाओं में और विद्यालयों में तथा शिक्षित मध्यवर्ग की सभा-सोसाइटियों में जो गर्मागर्म बहसें चल रही हैं, इन पात्रों के जरिए बौद्धिक स्तर पर यह उपन्यास उनको ही अत्यन्त प्रभावी ढंग से रख देता है। इसके साथ ही उस समाज में जो भाँति-भाँति के व्यवहार उन दिनों चल रहे हैं और प्रतिष्ठित हैं तथा जो आकांक्षाएँ कसमसा रही हैं, उनकी भी सशक्त प्रस्तुति इस उपन्यास में है। रवि बाबू की अपनी गहरी सौन्दर्य दृष्टि, इतिहास-दृष्टि एवं सृजनशीलता तो सर्वत्र अनुस्यूत है ही। मुझे पता नहीं कि जिन दिनों रवि बाबू यह उपन्यास लिख रहे थे, उन दिनों अपने पिछले जन्म में मैं कहाँ था और क्या था? परन्तु अभी भी जो मेरी बुद्धि और मन है, उसके आधार पर कह सकता हूँ कि यदि मैं रवि बाबू का मित्र होता तो प्रथम आत्मीय टिप्पणी इस उपन्यास पर उनसे यही करता कि इसका नाम 'गोरा' न होकर 'आनन्दमयी' होना चाहिए। इस उपन्यास की वास्तविक नायिका आनन्दमयी ही है। सबसे उन्नत व्यक्तित्व, सबसे संवेदनशील मन, सबसे उदात्त दृष्टि, सबसे तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि, सबसे अधिक सहज ज्ञान और सबसे अधिक आत्मविश्वास उनमें ही है। वे मानो उपन्यास की चेतना धुरी हैं।

यह बहुत महत्वपूर्ण है कि कुलीन बंग ब्राह्मण कन्या आनन्दमयी ने औपचारिक अर्थ में कोई शैक्षणिक उपाधि नहीं अर्जित की। उन्होंने स्वयं कोई शास्त्र नहीं पढ़े, परन्तु परम्परा से प्राप्त संस्कार और अनौपचारिक शिक्षा तथा शील की परम्परा ने उनके व्यक्तित्व को जितना दृढ़, संयमी, आचार-विचार में पारम्परिक और श्रद्धावान बनाया, उतना ही लचीला, उदात्त और आत्मविश्वास सम्पन्न भी। अपने प्रारम्भिक गृहस्थ जीवन में वे एक नैष्ठिक ब्राह्मण जीवन के आदर्श पर अडिग रहती हैं, इन्हीं आदर्शों में से एक है पति के प्रति श्रद्धा और प्रेम की प्रगाढ़ता। अंग्रेजी राज में सेना में सिपाही की नौकरी कर चुके कृष्णदयाल पदोन्नति के बाद फौज के अंग्रेजी अफसरों की कृपा पाने के लिए उनसे घुल-मिलकर मदिरा-मांस आदि का निस्संकोच सेवन तो करते ही थे, अपनी पत्नी आनन्दमयी के पवित्रता और सदाचार सम्बन्धी विश्वासों तथा आचरण की खिल्ली भी उड़ाते थे और लगातार दबाव डालकर अन्ततः कम से कम उनका छुआछूत का भाव तो उन्होंने मिटा ही दिया था। बुढ़ापे में कृष्णदयाल को पुनः अपने ब्राह्मणत्व पर अभिमान हुआ और वे नैष्ठिक ब्राह्मण का जीवन जीने लगे। यह नैष्ठिकता इतनी बढ़ गई कि जिस गोरा को उन्होंने चाव से (किसी मेमसाहब द्वारा जन्म के बाद ही बच्चे को छोड़कर स्वर्ग सिंघार जाने के कारण) गोद लिया था और जिसे ब्राह्मणत्व पर अभिमान सिखाया था, उसे भी वे म्लेच्छवंशीय मानकर पूजागृह में प्रवेश के अयोग्य मानने लगे थे। परन्तु आनन्दमयी जो आजीवन संस्कारी, सदाचारी हिन्दू स्त्री रहीं, उन्हें इस सबसे ऊपर उठकर जीवन के वास्तविक सत्य को देख सकने की सहज सामर्थ्य मानो जन्म से ही प्राप्त थी। रवि बाबू ने आनन्दमयी का वर्णन करते

हुए लिखा है कि (हिन्दी अनुवाद) : 'चेहरे पर सर्वदा एक साफ-सुथरी और तेजस्वी बुद्धि का भाव झलकता है' (पृ. 17)। वे स्वयं अपने बारे में बताती हैं : 'मेरे सात पीढ़ी के संस्कार एक-एक करके उखाड़ फेंके गए।' (पृ. 18-19)

जिन बातों को अतिशय बौद्धिकता के भार से व्याकुल और राष्ट्र की चिन्ता के ताप से तप्त 'गोरा' समझने में बहुत वक्त लेता है, उन सभी बातों का मर्म मानो देखते और सुनते ही आनन्दमयी सहज जान लेती है। उन जैसा तेजस्वी, आत्मबल सम्पन्न, अन्तर्दृष्टि और प्रज्ञा का धनी तथा साहसी व्यक्तित्व उपन्यास में और किसी का नहीं है।

आयरिश सैन्य अधिकारी का पुत्र और जन्म स्वयं को बंगीय ब्राह्मण मानकर राष्ट्र की सेवा के विषय में अत्यन्त ऊँचे आदर्शों के अनुरूप स्वयं को तपाने के लिए संकल्पित गोरा के समकक्ष चेतना के स्तर पर तो रामशरण हालदार की बेटी और परेशचन्द्र भट्टाचार्य की पालिता पुत्री राधारानी उर्फ सुचरिता मुखोपाध्याय ही है। इसलिए उनके बीच सहज आकर्षण सर्वथा स्वाभाविक है। गौशाला में बच्चे को जन्म देकर मर जाने वाली मेमसाहब का बंगीय ब्राह्मण द्वारा पालित पुत्र गौरमोहन हिन्दू हितैषी सभा का सभापति बनता है और ब्राह्मणों के उन आदर्शों को पाने के लिए स्वयं को पूरी तरह तपा डालने को तत्पर रहता है, जो आदर्श उसकी जानकारी में ब्राह्मणों के सर्वोच्च आदर्श हैं।

यह बहुत ही रोचक है कि जहाँ हिन्दुओं के विभिन्न पंथ-शैव, वैष्णव, शाक्त आदि के सैकड़ों उपपंथ परस्पर सहज ही अपनी-अपनी भूमि पर दृढ़ रहते हुए सम्बन्ध बनाना मुश्किल नहीं पाते, वहीं ख्रीस्त पंथ के दार्शनिक नियोग से बंगीय भद्रलोक के एक वर्ग में विकसित 'ब्रह्म समाजी' स्वयं को हिन्दुओं से पूरी तरह अलग और बहुत ऊँचा मानते हैं। स्वयं रवि बाबू के शब्दों में 'वे रामायण, महाभारत, भगवद्गीता आदि को हिन्दुओं की किताबें कहकर घरों से दूर रखना चाहते थे तथा घरों से निर्वासित कर देने के पक्षपाती थे। धर्म शास्त्रों में बाइबिल ही उनका एकमात्र अवलम्बन था।' रवि बाबू इसके लिए ब्राह्मणों के 'साम्प्रदायिक उत्साह' का विशेषण प्रयुक्त करते हैं। ब्रह्म समाजी घरों के लोग अन्धों को 'हिन्दू' कहकर तिरस्कार से देखते हैं। उधर उसी श्रेणी के हिन्दू भी ऐसे हैं, कि वे यह मानते हैं कि 'ब्राह्मणों के यहाँ जाने का अर्थ है आचार-विचार से हीन होना और ज्ञान शून्य, संकीर्ण हो जाना।'

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि ब्राह्मणों में यह जो ख्रीस्तपंथ के प्रति निष्ठा एवं जीसस निष्ठा उभरी, उसका स्रोत क्या है?

1. क्या 'श्रेष्ठतर आध्यात्मिक ज्ञान की प्यास' उन्हें वहाँ ले गई? या
2. दर्शन और इतिहास के ज्ञान से वे उधर सत्य पाकर मुड़े? अथवा
3. आत्महीनता से उबरने की लालसा वहाँ ले गई? या
4. प्रबल हो रहे राजपुरुषों के प्रभाव से वे उधर खिंचे?

पहला कारण इसलिए सम्भव नहीं, क्योंकि जिस ख्रीस्तपंथ की ओर उपन्यास में चित्रित ब्राह्म समाजी खिंच रहे थे, उसे 'रेनेसां' के बाद का प्रबुद्ध यूरोप (और उसका अंगभूत ब्रिटेन) स्वयं अस्वीकार कर चुका था। यदि आध्यात्मिक ज्ञान की प्यास होती तो श्री रामकृष्ण परमहंस एवं स्वामी विवेकानन्द के ज्ञान का अध्ययन अवश्य किया गया होता, राजा राधाकान्त देव, श्री गुरुदास बैनर्जी (बांग्ला ग्रन्थ 'ज्ञान ओ कर्म' के प्रसिद्ध लेखक), रमेशचन्द्र दत्त ('प्राचीन भारतीय सभ्यता' के लेखक तथा ऋग्वेद, रामायण एवं महाभारत के बांग्ला में अनुवादक) की रचनाएँ पढ़ी होतीं।

आखिर यह उपन्यास 1906-07 में लिखा गया है। राधाकांत देव का 1867 में देहावसान हो चुका है, 1860 में वे प्रसिद्धि के शिखर पर थे। गुरुदास बनर्जी के प्रसिद्ध ग्रन्थ 1901 तक प्रकाश में आ चुके हैं। रमेशचन्द्र दत्त 1889 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लखनऊ सम्मेलन की अध्यक्षता कर चुके हैं और विख्यात हो चुके हैं। श्री रामकृष्ण परमहंस देव भी 1880 तक विख्यात हो चुके हैं, 1886 ई. में जा चुके हैं। स्वामी विवेकानन्द 19वीं शती के अन्तिम दशक में विश्वविख्यात हो चुके हैं। (अन्य भारतीय दर्शनिकों की बात तो यहाँ क्या की जाए, उन्हें तो ब्राह्मो लोग क्या पढ़ते!)।

अतः प्रथम कारण ठहरता नहीं है। ब्राह्म समाजियों में वेदों और हिन्दुत्व को लेकर जो दल बने, वह प्रसंग तो अलग है ही। रवि बाबू के पिता हिन्दुत्व के एक विशेष पक्ष को लेकर 'आदि ब्रह्मसमाज' बना चुके थे।

दूसरा कारण भी सही नहीं ठहरता। गोरा में वर्णित कोई भी ब्राह्मो पात्र भारतीय दर्शन का अधिकारी ज्ञाता नहीं है। भारत के इतिहास की भी उसे कोई जानकारी नहीं है। इतिहास का ज्ञान तो गोरा का ही अधिक प्रामाणिक ठहरता है। गोरा ठीक ही कहता है 'जो रूप में भी सत्य हैं, अरूप में भी सत्य हैं, स्थूल में भी सत्य हैं और सूक्ष्म में भी, ध्यान में भी और प्रत्यक्ष में भी, उन्हें उपलब्ध करने का जो विशाल प्रयत्न भारतवर्ष कर रहा है, मूर्खों की तरह उसकी अवज्ञा करके यूरोप की अठारहवीं शताब्दी के, नास्तिकता और आस्तिकता मिश्रित एक संकीर्ण, नीरस, अंगहीन धर्म को हम एकमात्र धर्म के रूप में ग्रहण कर लें, यह कैसे हो सकता है?' दुःखद तथ्य यह है कि आज उसी बंगाल में रवि बाबू के इन शब्दों का हृदय और बुद्धि से स्मरण करने वाले लोग भी नगण्य हो चुके हैं।

उन दिनों ही स्वयं यूरोप में ख्रीस्त पंथ का उपहास बड़े-बड़े विद्वान उड़ा रहे थे। इंग्लैंड में भी। यह इन ब्राह्मों को पता नहीं था। 'एनलाइटेनमेंट' के तात्त्विक आधारों से ये ब्राह्मो अनजान थे।

भारत में उन दिनों भी अलग-अलग 500 रियासतें थीं जहाँ हिन्दुत्व पूर्णतः प्रतिष्ठित था। यह भी इन्हें ज्ञात नहीं था। यहाँ तक कि 1878 में स्वयं केशवचन्द्र सेन ने हिन्दू पद्धति से अपनी बेटी कूचबिहार के स्वाधीन राजा को इसीलिए ब्याही थी और कूचबिहार, दरभंगा आदि रियासतों में हिन्दुत्व पूरी गरिमा से फैला था। खुद अंग्रेज

कूचबिहार नरेश की चाटुकारिता कर उन्हें पटा रहे थे। अनेक भारतीय नरेशों की चाटुकारिता में अंग्रेज लगे थे। चाटुकारिता पूर्वक बिनय दान, नजराना आदि अनुग्रह रूप में प्राप्त कर ही अंग्रेज भारत में सबल हुए और सबल होते ही अपनी असलियत दिखाने लगे, ऐसे स्पष्टतः अनैतिक लोगों से भला नैतिक जीवन की क्या प्रेरणा कोई भी जागृत व्यक्ति ले सकता है?

ऐसे में, तीसरा और चौथा कारण ही ब्रह्म समाज के उभार-प्रसार का हेतु ठहरता है। राजपुरुषों का राजसी प्रभाव और आत्महीनता से उबरने की आकांक्षा ब्राह्म समाज का प्रेरक-प्रसारक तत्त्व है। परन्तु उस ब्रह्म समाज का भी सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व तो परेश बाबू और सुचरिता ही करते हैं, हारान बाबू से तो जुगुप्सा ही होती है। चेतना की दृष्टि से ब्राह्मों के प्रतिनिधि हारान बाबू और तथाकथित सनातनी हिन्दू हरिमोहनी एक से दिखते हैं। रूढ़ि, दर्प, कुटिलता, क्षुद्रता तथा मायाजाल में समतुल्य। एक के लिए ब्राह्म समाज अपनी निजी लिप्साओं की पूर्ति का साधन है तो दूसरी के लिए हिन्दू धर्म या सनातन धर्म। दोनों का पाखण्ड भयावह है। इसीलिए न पहले की प्रगल्भ विद्वत्ता प्रभावित करती है, न दूसरे की करुण कथा करुणा उपजाती है, अपितु दोनों के प्रति समान तिरस्कार ही जगता है। दम्भ के पोषण का माध्यम कोई भी मतवाद बन सकता है। इसमें सम्बन्धित विचार से कहीं अधिक भूमिका सम्बन्धित पात्र की चित्तभूमि और बौद्धिक स्तर की होती है, यही उपन्यास स्पष्ट करता है।

लेकिन 'गोरा' कोई वैचारिक निबन्ध नहीं है। वह विचारों की प्रस्तुति का औपन्यासिक वितान भी नहीं है। वह सचमुच एक प्रभावशाली उपन्यास है। कथा वहाँ जीवन की है, मतवादों की नहीं, विचार की भी नहीं। वहाँ विचार उतने ही हैं, जितने शिक्षित मध्यवर्ग के औसत जीवन में होते हैं। अतः वह समाजशास्त्रीय अध्ययन की एक सामग्री भले बनाया जा सके, दार्शनिक चिन्तन सम्बन्धी किसी अध्ययन से उसे जोड़ पाना सम्भव नहीं, उचित नहीं।

महत्त्वपूर्ण है उसके पात्रों के मनोभावों की सुन्दर, प्रभावी, सम्यक प्रस्तुति। साथ ही दृश्यों की जीवन्त रसवन्ती छवियाँ जिनमें कवि-कल्पना अपने पूर्ण सौन्दर्य के साथ गद्य में खिली हैं

श्यामा सुन्दरी सुचरिता के प्रथम दर्शन से मुग्ध पुलकित विनय के लिए सहसा सामान्य दृश्य भी दिव्य दीप्ति से भासित हो उठता है

'ऐसे अपूर्व आनन्द के साथ ऐसी घनी वेदना का बोध अपने जीवन में उसे कभी नहीं हुआ था। उसका क्षुद्र घर और उसके आसपास का कुत्सित कलकत्ता मायापुरी-सा हो उठा था। जिस राज्य में असम्भव सम्भव हो जाता है, असाध्य सिद्ध होता है, जिसमें रूपातीत रूप लेकर सामने दिखाई देता है, मानो ऐसे ही किसी नियम-विहीन राज्य में विनय घूम रहा था। बरसात की सबेरे की धूप की दीप्त आभा उसे मन में बस गई थी, उसके रक्त में बह रही थी, उसके अन्तःकरण के सम्मुख एक

ज्योतिर्मयी यवनिका-सी छाकर दैनिक जीवन की सारी तुच्छता को बिलकुल ओझल कर गई थी।' (पृ. 8)

सुचरिता के हाथ का पता लिखा, डॉक्टरी फीस वाला लिफाफा सतीश लाकर देता है तो विनय के लिए उसकी लिखावट भी चिरस्मरणीय हो गई है और तब

‘वर्षा की संध्या में आकाश का अंधकार मानो भींगकर भारी हो गया है। रंगहीन, वैचित्र्यहीन बादलों के शब्दहीन दबाव के नीचे कलकत्ता शहर मानो एक बहुत बड़े उदास कुत्ते की तरह पूँछ के नीचे मुँह छिपा कुण्डली बाँधकर चुपचाप पड़ा हुआ है।’ (पृ. 11) गहरी प्रीति से उपजी एक अनाम उदासी का प्रभाव।

बड़ी-बड़ी आँखों से मधुर स्वर में पूछे गए प्रश्न के उत्तर में गोरा का भारतवर्ष की वृहद प्राचीन सत्ता पर एक प्रभावपूर्ण वक्तव्य सुनते समय सुचरिता जैसी ग्रहणशील रही, उससे गोरा के भीतर सुचरिता के व्यक्तित्व का सौन्दर्य समाता चला गया, तब उस दिन पहली बार गोरा प्रकृति के सौन्दर्य की ओर खिंचा

‘नदी ने उसे भीड़-भरे कर्म-क्षेत्र से किसी अनिर्दिष्ट सुदूर की ओर इशारा कर दिया जहाँ निर्जन जल के किनारे पेड़ों की मिली हुई डालों में न जाने कौन-से फूल खिलते हैं, कौन-सी छायाएँ फैलती हैं। वहाँ निर्मल नीलाकाश के नीचे दिन मानो किसी की आँखों की उन्मीलित दृष्टि है और रातें मानो किसी की झुकी हुई पलकों की लज्जा-जड़ित छाया। चारों ओर से माधुर्य की लहर ने आकर गोरा को जिस एक अतल, अनादि शक्ति के आकर्षण में समेट लिया, उसका कोई परिचय गोरा को इससे पहले नहीं था। वह एक साथ ही वेदना और आनन्द से उसके समूचे मन को एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश की ओर ले जाने लगी। आज इस हेमन्ती रात में नदी के किनारे नगर के अव्यक्त कोलाहल और नक्षत्रों के अस्फुट आलोक में गोरा किसी विश्वव्यापिनी अवगुणिता मायाविनी के सम्मुख आत्मविस्मृत-सा खड़ा हुआ। इस महारात्रि को उसने इतने दिन सिर झुकाकर स्वीकार नहीं किया। इसीलिए आज अकस्मात् उसके शासन के जादू ने गोरा को अपने सहस्त्र-वर्ण डोर से जल, थल, आकाश के साथ चारों ओर से बाँध लिया। गोरा अपने ऊपर स्वयं विस्मित होता हुआ नदी के सूने घाट की एक सीढ़ी पर बैठ गया। वह बार-बार अपने आपसे पूछने लगा कि उसके जीवन में यह किस चीज का आविर्भाव हो रहा है और इसका क्या प्रयोजन है। जिस संकल्प के द्वारा उसने अपने जीवन को एक सिरे से दूसरे सिरे तक व्यवस्थित करके रखा था, उसके बीच इसका स्थान कहाँ है? यह क्या उसके विरुद्ध हैइसे क्या संग्राम करके परास्त करना होगा? यह सोचकर गोरा ने जैसे ही मुट्टियाँ कसकर बाँधी, वैसे ही बुद्धि से उज्ज्वल, नम्रता से कोमल, दो स्निग्ध आँखों की जिज्ञासु दृष्टि उसके मन के सामने आ गईकिसी अनिन्ध सुन्दर हाथ की उँगलियों ने स्पर्श-सौभाग्य का अनास्वादित अमृत उसके ध्यान के सामने ला रखागोरा के सारे शरीर में पुलक की बिजली कौंध गई। अंधकार के सूनेपन में यह प्रगाढ़ अनुभूति उसके सभी प्रश्नों को, उसकी द्विविधा

को बिलकुल निरस्त कर गई। अपने पूरे देह-मन से वह इस नई अनुभूति का उपभोग करने लगा, इसे छोड़कर उठने की उसकी इच्छा नहीं हुई’ (पृ. 137-138) सुचरिता का सौन्दर्य और प्रकृति का सौन्दर्य एक गहरे स्तर पर एकाकार हो उठे।

ग्रामवासियों पर हो रहे भीषण अन्याय के विरुद्ध न्याय का सहज पक्ष लेते गोरा के साथ अंग्रेज मजिस्ट्रेट ने जैसा निकृष्ट आचरण किया और अकारण ही जेल भेज दिया, इससे वरदासुन्दरी की सम्पूर्ण चाटुकारिता और ब्राह्मों की अंग्रेजों के प्रति सहज अनुरक्ति के संस्कार को ठुकराकर तेजस्विनी ललिता ने मजिस्ट्रेट के स्वागत में कार्यक्रम प्रस्तुत करने से इनकार कर दिया और क्रुद्ध-क्षुब्ध ललिता विनय के साथ स्टीमर में वापस घर लौट पड़ी। रास्ते में विनय के शीलसम्पन्न व्यवहार का चित्रण रवि बाबू यों करते हैं

‘और कुछ नहीं, यही सुन्दर विश्वास-भरी नींद ही ललिता ने आज विनय के हाथों में सौंप दी है। विनय ने किसी महामूल्य रत्न की तरह इस नींद की ही रक्षा करने का भार लिया है। माता-पिता, भाई-बहन कोई वहाँ नहीं हैं, एक अपरिचित शय्या पर ललिता अपनी सुन्दर देह को लिटाकर निश्चिन्त सो रही है। निश्वास-प्रश्वास मानो उसी निद्रा-काव्य को छन्द में बाँधते हुए शान्त भाव से आ-जा रहे हैं। उस निपुण कबरी की एक लट भी इधर-उधर नहीं हुई है, उस नारी हृदय की कल्याण-कोमलता से मण्डित दोनों हाथ परिपूर्ण विश्राम में बिस्तर पर पड़े हैं, दोनों कुसुम सुकुमार तलवे मानो किसी उत्सव के अवसान-संगीत की भाँति अपनी सब रमणीय गति-चेष्टाओं को स्तब्ध करके बिस्तर पर सटे हुए पड़े हैं। सम्पूर्ण विश्वास की इस छवि ने विनय की कल्पना को छा लिया। तारों-भरे निःशब्द अँधेरे से घिरे हुए इस आकाश-मण्डल के बीचों-बीच ललिता की यह नींद, यह सुन्दर, सुडौल, सम्पूर्ण विश्राम, मानो सीपी में मोती सो रहा हो, आज विनय को मानो संसार का एकमात्र ऐश्वर्य जान पड़ रहा था’ (पृ.-189)। और एक स्वस्थ संयमी सदाचारी तरुण के इस मर्यादा सम्पन्न आचरण का ज्ञान होने पर ललिता जैसी शीलवती का आकर्षण दुर्निवार हो उठे, यह भी स्वाभाविक था

‘अभी-अभी एक शीतल झोंका नदी के जल में लहरों का कल-कल उठाने लगा था और निचले तल्ले में एंजिन-घर के खलासियों के काम शुरू करने की हलचल के लक्षण दिख रहे थे। ललिता ने केबिन से बाहर आकर देखा, पास ही एक बेंत की कुर्सी पर गर्म चादर ओढ़े बैठा-बैठा विनय सोया हुआ है। देखकर ललिता के हृदय का स्पन्दन तेज हो गया। सारी रात विनय वहीं बैठकर पहरा देता रहा। इतना पास, फिर भी इतनी दूर! काँपते पैरों से ललिता डेक से केबिन की ओर लौट गई, दरवाजे के पास खड़ी होकर उस हेमन्ती प्रत्यूष के अँधेरे में लिपटे अपरिचित नदी-दृश्य के बीच अकेले सोए हुए विनय की ओर देखती रही। सामने की ओर आकाश के तारे मानो विनय की नींद की रखवाली करते हुए-से जान पड़े, एक अनिर्वचनीय गम्भीर माधुर्य से

उसका हृदय मानो किनारे तक भर गया। एकाएक उसकी आँखों में आँसू क्यों उमड़ आए, ललिता स्वयं न समझ सकी। मानो जिस ईश्वर की उपासना करना उसने पिता से सीखा है, उसी ने ललिता को अपने दाहिने हाथ से छू दिया हो। मानो नदी के तरु-पल्लवों से छाए हुए निद्रित किनारे पर जब रात के अंधकार के साथ नए आलोक का पहला रहस्यमय मिलन हो रहा है, उसी पवित्र सन्धि-क्षण में नक्षत्रों की भरी सभा में कोई अनाहत महावीणा दुःसह आनन्द-वेदना के दिव्य संगीत में बज उठी हो।’ (पृ. 192)

फिर दोनों के भीतर जो एक साथ घटित हुआ, वह लेखक के शब्दों में

‘ओस से भीगे हुए कास-वन के पीछे से आसन्न सूर्योदय की सुनहरी छटा फैलने लगी। इन दोनों ने जीवन में ऐसा प्रभात कभी नहीं देखा था। आलोक ने उन्हें ऐसे कभी नहीं छुआ था। आकाश निरा शून्य नहीं है, वह मौन विस्मय-भरे आनन्द से सृष्टि की ओर अनिमेष देख रहा है, यह उन्होंने पहले-पहल जाना। दोनों की आन्तरिक चेतना आज मानो ऐसी जाग गई थी कि सारे जगत के अन्तर्निहित चैतन्य से मानो उनका अंग-अंग छू रहा था।’ (पृ. 193)

इस तरह के दृश्य वर्णनों से सम्पूर्ण उपन्यास जगमग है। इसी प्रकार रवि बाबू पात्रों के मनोभावों के द्वारा न केवल सम्बन्धित पात्र के आन्तरिक मनोभाव व्यक्त कर देते हैं, अपितु उसी में से उन भावों के पीछे छिपी सामाजिक मान्यताओं और वैचारिक सन्दर्भों का सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य भी इंगित कर देते हैं।

ब्राह्मो वरदासुन्दरी की विमूढ़ आस्था का कैसा रोचक चित्रण है

‘उनकी रेशमी साड़ी कुछ अधिक सरसराती थी और उनके ऊँची एड़ी के जूते कुछ अधिक खट-खट करते थे। दुनिया में कौन-कौन-सी बातें ब्राह्म हैं और कौन-सी अब्राह्म, उसकी पड़ताल में वे सर्वदा बहुत सर्तक रहती हैं।...लड़कियों के पैरों में मोजा पहनने और टोपी पहनकर बाहर निकलने को भी वह ऐसा महत्त्व देती हैं मानो ये ब्राह्म समाज के धर्म-सिद्धान्त का अंग हों। किसी ब्राह्म परिवार को जमीन पर आसन विछाकर भोजन करते देख उन्होंने यह आशंका प्रकट की थी कि आजकल ब्राह्म-समाज फिर मूर्तिपूजा की ओर फिसलने लगा है’ (पृ. 44-45)

परन्तु बात मन्दबुद्धि वरदासुन्दरी तक ही सीमित नहीं है। परम बुद्धिमती, परम शीलसम्पन्ना सुचरिता का ब्राह्मो संस्कार भी हिन्दुत्व के प्रति विरक्ति से भरपूर है

‘पहली दृष्टि से ही गोरा के प्रति उसमें एक खीझ उपजी। अंग्रेजी पढ़े-लिखे किसी व्यक्ति में कट्टर हिन्दूपन को देखकर सह सके, ऐसे संस्कार सुचरिता के नहीं थे, न इतनी सहिष्णुता थी।’ (पृ. 50)

और जब सहज प्रगल्भा ललिता प्रथम भेंट में गोरा के प्रति अपनी सहज नापसन्दगी जाहिर करती है तब सुचरिता पुनः हिन्दुत्व पर ही कटाक्ष करती है। उद्धरण है

ललिता ने फिर कहा ‘लेकिन जो कहो, दीदी, गौरमोहन बाबू मुझे बिल्कुल अच्छे नहीं लगे। कैसा भूरा चिट्टा रंग है, कठैठा चेहरा है, दुनिया में और किसी को कुछ समझते ही नहीं। तुम्हें कैसे लगे?’ सुचरिता बोली ‘कट्टर हिन्दूपन है।’ (पृ. 61)

एक ही परिवेश है। सभी प्रमुख पात्र मूलतः ब्राह्मण कुलों के बंगीय भद्रलोक के अंग हैं। सामान्य संस्कारों की पृष्ठभूमि भी एक है। परन्तु ब्राह्मो और सनातनी हिन्दुओं का बोधजगत, मनोजगत, बौद्धिकजगत, कल्पनाजगत, ध्यानजगत सभी कुछ नितान्त भिन्न है। यह है श्रद्धा एवं शिक्षा की भिन्नता से उत्पन्न प्रभावों का अन्तर। ब्राह्मो हारान बाबू को अपने हिन्दू अतीत से घृणा ही घृणा है। पर गोरा का मनोजगत सर्वथा पृथक है। रवि बाबू द्वारा किया गया वर्णन देखें

‘कहते-कहते गोरा चटाई छोड़कर उठ खड़ा हुआ और छत पर टहलने लगा। पूर्व में उषा का आभास मानो उसे एक वाक्य-सा लगा, मानो प्राचीन तपोवन से एक वेद-मन्त्र उच्चारित हो उठा। उसका शरीर रोमांचित हो आयाक्षण-भर वह स्तम्भित-सा खड़ा रहा और उसे लगा कि उसका ब्रह्म-रन्ध्र भेद करके एक ज्योति सूक्ष्म मृणाल-तन्तु के सहारे उठकर एक ज्योतिर्मय शतदल-सी सारे आकाश में व्याप कर खिल उठी है उसके समूचे प्राण, समूची चेतना, समूची शक्ति मानो इससे एक परम आनन्द में जा मिली है।’ (पृ. 86)

ब्राह्मणत्व से जुड़ा गोरा अतीत की समस्त गरिमा से स्वयं को एकाकार पाता है तो ब्रह्मसमाज से जुड़ी वैसी ही प्रतिभाशालिनी सुचरिता उस अतीत का सर्वथा परित्याग कर एक नया यूरेण्डपंथी भारतीय भविष्य रचने के महत् उत्तरदायित्व का वरण करने को उदग्र है। हारान बाबू से विवाह वह इसी महत् उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिए करने को उत्सुक है। उसे जो लगता है, वह कवि के शब्दों में

‘वह किसी मनुष्य से विवाह करने जा रही है, इसका उसने हृदय से अनुभव नहीं किया वह मानो समूचे ब्रह्म समाज के महान मंगल से ही विवाह करने जा रही हो और वह मंगल बहुत-से ग्रन्थ पढ़कर विद्वान हो गया हो तथा तत्त्व-ज्ञान के कारण बहुत गम्भीर हो। विवाह की कल्पना उसके लिए मानो बहुत बड़ी जिम्मेदारी की घबराहट के द्वारा रचा हुआ एक पत्थर का किला हो गई : वह किला केवल सुख से रहने के लिए नहीं है बल्कि युद्ध करने के लिए हैपारिवारिक नहीं, ऐतिहासिक है।’ (पृ. 91)

बहरहाल, हारान बाबू के साम्प्रदायिक उत्साह से घनिष्ठ परिचय होने पर सुचरिता के सत्संस्कारों से भरे मन को धक्का लगता है

‘परेश बाबू की शान्त मुख-छवि देखने पर, जिस सत्य को वह हृदय में धारण किये हैं, उसी की महत्ता आँखों के सामने आती है। किन्तु हारान बाबू वैसे नहीं हैं, उनमें ब्राह्मत्व नाम का एक तीखा आत्म-प्रकाश और सब कुछ के ऊपर छा जाता है, उनकी प्रत्येक बात, उनके प्रत्येक काम में अशोभन ढंग से प्रकट हो जाता है। इससे

सम्प्रदाय में उनका सम्मान बढ़ा था, किन्तु परेश बाबू की शिक्षा के प्रभाव से सुचरिता साम्प्रदायिक संकीर्णता में नहीं बँध सकी थी, इसलिए हारान बाबू की एकान्त ब्राह्मिकता उसकी स्वाभाविक मानवता को चोट पहुँचाती थी।' (पृ. 92)

आगे पुनः रवि बाबू बताते हैं

'हारान बाबू के साम्प्रदायिक उत्साह के अत्याचार और नीरस संकीर्णता से सुचरिता का मन भीतर ही भीतर प्रतिदिन उनसे विमुख होता जाता था।' (पृ. 93) हिन्दू समाज की 'संकीर्णताओं' के विरुद्ध उठ खड़े होने की दावेदारी वाले ब्रह्म समाज ने किस प्रकार की नई साम्प्रदायिक घेरेबन्दी की, इसकी झलक रवि बाबू के इन वर्णनों में स्पष्ट रूप से मिलती है

'ललिता जानती है कि विनय हिन्दू है, किसी तरह भी विनय के साथ उसका विवाह नहीं हो सकता। फिर भी अपने हृदय को किसी तरह वश में न रख पाकर लज्जा और भय से उसके प्राण सूख रहे थे।' (पृ. 218)

इसी प्रकार वरदासुन्दरी कहतीं, 'आजकल सुचरिता हिन्दू हो गई है।' (पृ. 234)

आगे पुनः देखिए

'यह बात भी तरह-तरह से अलंकृत होकर चलने लगी कि सुचरिता हिन्दू हो गई है और हिन्दू मौसी के घर आश्रय लेकर जप-तप, यज्ञ-अनुष्ठान और ठाकुर पूजा करने लगी है।' (पृ. 266) यह है ओढ़ी हुई निष्ठाओं का प्रभाव।

दूसरी ओर, अपने जन्म की सत्यकथा जानकर ब्राह्मण जाति के अतिरिक्त दर्प से मुक्त होकर गोरा और भी निखर उठता है, क्योंकि उसकी निष्ठा सच्ची है। रवि बाबू के शब्द हैं

'गोरा कहता गया', ...श्रद्धा की नींव पक्का करने की कोशिश में मैं और कोई काम ही नहीं कर सका, वही मेरी एकमात्र साधना थी। इसलिए वास्तविक भारतवर्ष से आँखें मिलाकर उसकी सच्ची सेवा करने में मैं बार-बार डरकर लौटता ही रहा हूँ। मैंने एक निष्कण्टक निर्विकार भारतवर्ष गढ़कर उसके अभेद्य दुर्ग के भीतर अपनी भक्ति को सुरक्षित कर लेने के लिए अब तक क्या-क्या लड़ाइयाँ नहीं लड़ीं? लेकिन आज मेरी कल्पना का वह दुर्ग पल-भर में स्वप्न की तरह उड़ गया है। मैं एकाएक छुटकारा पाकर एक बहुत बड़े सत्य के बीच आ गिरा हूँ। समूचे भारतवर्ष का अच्छा-बुरा, सुख-दुख, ज्ञान-अज्ञान सब बिलकुल मेरे हृदय के पास पहुँच गया है।' (पृ. 452-453)

ब्राह्मणत्व के अतिरिक्त आवेश में गोरा अपनी माँ की सेविका लछमिया के हाथ का दिया पानी भी नहीं पीता था। अब सत्य जानकर, विगत ज्वर होकर (उद्धरण है)

गोरा ने कहा, "माँ, तुम्हीं मेरी माँ हो। जिस माँ को मैं खोजता फिर रहा था, वह तो यहीं मेरे कमरे में बैठी हुई थीं। तुम्हारी जात नहीं है, तुम ऊँच-नीच का विचार नहीं करतीं, घृणा नहीं करतीं तुम केवल कल्याण की प्रतिमा हो। तुम मेरा भारतवर्ष हो। माँ अपनी लछमिया को बुलाओ, कहे मुझे पानी पिला दे।' (पृ. 455)

दृश्यों और पात्रों के मनोभावों के इन्हीं जीवन्त बिम्बों के सौन्दर्य-सरोवर में हिलोरें लेतीं विचार-वीथियाँ भी वैसी ही आकर्षक, वैसी ही स्फूर्तिप्रद, वैसी ही उल्लासदायिनी हैं :

भारतवर्ष के सत्य को जानने का आग्रह करता गोरा विनय से कहता है 'साधना करो। मन में विश्वास हो तो कठोर साधना में ही सुख मिलेगा। हमारे शौकिया पैट्रियट लोगों में सच्चा विश्वास नहीं है, तभी वे न अपने, न दूसरों के सामने कोई जोरदार दावा कर पाते हैं। स्वयं कुबेर भी अगर उन्हें वर देने आते तो वे शायद लाट साहब के चपरसी की गिलटदार पेटी से अधिक कुछ माँगने का साहस न कर पाते। उनमें विश्वास नहीं है, इसीलिए कोई आशा भी नहीं है।' (पृ. 25)

जब विनय अपनी सीमाओं का उल्लेख कर किसी एक काम का सीधा निर्देश माँगता है, तब गोरा कहता है

'काम की बात कहते हो? इस वक्त हमारा एकमात्र काम यह है कि जो कुछ स्वदेश का है, उसके प्रति बिना संकोच, बिना संशय, सम्पूर्ण श्रद्धा प्रकट करके देश के अविश्वासियों में भी उसी श्रद्धा का संचार कर दें। देश के मामले में शर्मिन्दा हो-होकर हमने अपने मन को गुलामी के विष से दुर्बल कर दिया है, हममें से प्रत्येक अपने उदाहरण से इसका प्रतिकार करे, तभी हमें काम करने का क्षेत्र मिलेगा। अभी हम जो भी काम करना चाहेंगे, वह केवल इतिहास की स्कूली किताब लेकर दूसरों की नकल करना हो जाएगा। उस झूठे काम में क्या हम कभी भी सच्चाई से अपना पूरा मन-प्राण दे सकेंगे? उससे तो केवल अपने को और हीन ही कर देंगे।' (पृ. 25)

प्रगल्भ ब्रह्मसमाजी हारान बाबू हिन्दू समाज के दोष गिनाते हुए इसमें सुधार की जरूरत पर आवेशपूर्ण भाषण देते हैं। तब

गोरा ने गरजकर कहा 'सुधार? सुधार बहुत बाद की बात है। सुधार से कहीं बड़ी बात है प्रेम की, श्रद्धा की। पहले हम एक हों, फिर सुधार भीतर से ही अपने आप हो जाएगा। आप लोग तो अलग होकर देश के टुकड़े-टुकड़े करना चाहते हैं आप लोग कहते हैं, देश में कुसंस्कार हैं इसलिए हम सुसंस्कारी लोग उससे अलग रहेंगे। मैं यह कहता हूँ कि मैं किसी से श्रेष्ठ होकर किसी से अलग नहीं होऊँगा। यही मेरी सबसे बड़ी आकांक्षा है। फिर एक हो जाने पर कौन-सा संस्कार रहेगा, कौन-सा नहीं रहेगा, यह हमारा देश जानेया जो देश के विधाता हैं वे जानें।' (पृ. 62)

गोरा कहता है कि क्रिश्चियन मिशनरियों एवं ब्राह्म समाजियों द्वारा हिन्दू समाज को 'अन्य' मानते हुए उसके सुधार की दावेदारी की जाती है, जो समाज स्वीकार नहीं करेगा। हारान कहते हैं 'क्यों नहीं? तब गोरा कहता है

'माँ-बाप की ओर से सुधार सहा जाता है, लेकिन पहरेदार की ओर से सुधार में, सुधार से अपमान कहीं अधिक है, इसलिए वैसा सुधार मानने में मनुष्यत्व नष्ट

होता है। पहले अपने बनिए, फिर सुधारक बनिएगा।' (पृ. 62-63) परन्तु आज तो सब सुधारक भारतीय समाज के लिए 'पराए' ही बने हैं।

वह यह भी कहता है 'आप जिन्हें कुप्रथा कहते हैं, केवल अंग्रेजी किताबें रटकर कहते हैं, स्वयं उनके बारे में कुछ नहीं जानते। जब अंग्रेजों की सब कुप्रथाओं की भी आप ठीक ऐसी ही बुराई कर सकेंगे, तब इस बारे में और कुछ कहिएगा।' (पृ. 54-55) यह कथन आज भी प्रासंगिक है।

प्रारम्भ में स्वाभिमानी लोग भी ब्रिटिश सरकारी नौकरी में रहे, परन्तु क्रमशः स्थिति बदलती गई, यह बात सुचरिता से गोरा इन शब्दों में कहता है

'जो लोग गवर्नमेंट का पक्ष करते हैं वे गवर्नमेंट की शक्ति को अपनी शक्ति मानकर घमण्ड करते हैं और देश के लोगों से अलग एक श्रेणी के हो जाते हैं ज्यों-ज्यों दिन बीतते हैं, हमारा यह भाव भी त्यों-त्यों बढ़ता जाता है। मैं जानता हूँ, मेरी पहचान के एक पुराने डिप्टी थे अब काम छोड़ चुके हैं उनसे डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट ने पूछा था, 'बाबू तुम्हारी कचहरी में इतने ज्यादा लोग कैसे बरी हो जाते हैं?' इस पर उन्होंने जवाब दिया था, 'साहब, उसकी एक वजह है। आप जिन्हें जेल भेजते हैं, वे आपके लिए कुत्ते, बिल्ली के समान हैं, और मैं जिन्हें जेल भेजता हूँ वे तो मेरे अपने भाई लगते हैं।' तब तक भी ऐसे डिप्टी थे जो इतनी बड़ी बात कह सकें, और ऐसे अंग्रेज मजिस्ट्रेटों की कमी भी नहीं थी जो सुन सकें, लेकिन जैसे-जैसे दिन बीतते जाते हैं, नौकरी के फन्दे अंग के गहने होते जा रहे हैं, और आजकल के डिप्टियों के लिए भी देश के लोग धीरे-धीरे कुत्ते-बिल्ली के समान हुए जा रहे हैं। और इस तरह तरक्की पाते रहने से जो उनकी केवल अधोगति हो रही है, इस बात की अनुभूति भी उनकी चली जा रही है। दूसरे के कन्धे का सहारा लेकर अपनों को नीचा समझना और नीचा समझकर उनके साथ अन्याय करने को बाध्य होना, इससे अधिक कोई अमंगल नहीं हो सकता।' (पृ. 131)

जिसका चित्त दुराग्रहों से पूरी तरह भरा न हो, वह अपने लिए अपरिचित नई बातों को भी शान्तचित्त से सुनता है और जो सत्य है, उसे ग्रहण करने की पात्रता रखता है। उपन्यास का यह अंश देखिए

'भारतवर्ष नाम की एक बृहत् प्राचीन सत्ता है, यह बात सुचरिता ने कभी क्षण-भर के लिए भी न सोची थी। यह सत्ता छिपी रहकर भी अधिकारपूर्वक सुदूर अतीत से लेकर सुदूर भविष्य तक मानव-जाति के विराट भाग्यजाल में एक विशेष रंग का सूत्र एक विशेष ढंग से बुनती रही है, यह सूत्र कितना सूक्ष्म और विचित्र है और कितनी दूर तक उसका कितना गहरा प्रभाव है, यह आज गोरा के प्रबल स्वर से सुनकर सुचरिता ने मानो सहसा जान लिया। प्रत्येक भारतवासी का जीवन इतनी बड़ी सत्ता से घिरा हुआ और अधिकृत है, उसे सचेतन भाव से अनुभव न करने से हम लोग कितने छोटे हो जाते हैं और अपने चारों ओर के सम्बन्ध में कैसे बेखबर होकर काम

करते हैं, यह सुचरिता के सम्मुख पलभर में स्पष्ट हो गया। इसी आकस्मिक स्फूर्ति के आवेग से सुचरिता अपना सब संकोच छोड़कर सहज विनय से कह उठी, देश की बात मैंने कभी इस ढंग से, उसे इतना बड़ा इतना सत्य मानकर नहीं सोची।' (पृ. 132)

सुचरिता की मूल चिन्ता धर्म की है। सत्य धर्म की। देश की उपाधि से बँधकर कहीं हम निरुपाधिक सत्य से विमुख न हो जाएँ, यह उस मनस्विनी की सहज चिन्ता है। वह मृदु स्वरों में पूछती है

'धर्म क्या देश से परे नहीं है?' (पृ. 132) गोरा कहता है 'देश से जो परे है, देश से जो कहीं बड़ा है, वह देश के भीतर से ही प्रकाशित होता है। ईश्वर ऐसे ही विचित्र भाव से अपने अनन्त स्वरूप को व्यक्त करते हैं। जो कहते हैं कि सत्य एक है, इसलिए केवल एक ही धर्म सत्य हो सकता है, कि धर्म का एक ही रूप सत्य हो सकता है, वे इस सत्य को तो मानते हैं कि सत्य एक है, लेकिन इस सत्य को नहीं मानना चाहते कि सत्य अन्तहीन होता है। वह जो अन्तहीन एक है, वह अन्तहीन अनेक में अपने को प्रकाशित करता रहता है उसी की तो लीला सारे जगत में हम देखते हैं। इसीलिए धर्म-मत भी विचित्र रूप लेकर कई दिशाओं से उसी धर्म-राज की उपलब्धि करते हैं। मैं निश्चयपूर्वक आपसे कहता हूँ, भारतवर्ष की खुली खिड़की से आप सूर्य को देख सकेंगी इसके लिए सागर-पार जाकर ख्रिस्तान गिरजाघर की खिड़की में बैठने की कोई जरूरत न होगी।' (पृ. 132-133) यहाँ ख्रिस्तान गिरजाघर का निषेध नहीं है, उसकी एकान्तिक सत्यता के बलपूर्ण आग्रह का निषेध है।

निश्चल जिज्ञासा से भरी सुचरिता पूछती है 'भारतवर्ष का धर्म-तन्त्र हमें एक विशेष पथ से ईश्वर की ओर ले जाता है। वह विशेषत्व क्या है?' (पृ. 133)

रवि बाबू के शब्दों में इस पर गोरा ने कहा 'ब्रह्म जो निर्विशेष है, वह विशेष में ही व्यक्त होता है, किन्तु उसके विशेष का अन्त नहीं है। जल भी उसका विशेष है, स्थल भी उसका विशेष है, वायु, अग्नि, प्राण, उसके विशेष हैं, बुद्धि, प्रेम सभी उसके विशेष हैं। गिनकर उसका कोई अन्त नहीं पाया जा सकता, इसीलिए विज्ञान का सिर चकरा जाता है। जो निराकार है, उसके आकार का अन्त नहीं है ह्रस्व-दीर्घ, स्थूल-सूक्ष्म का अनन्त प्रवाह ही उसका है। जो अनन्त विशेष है, वही निर्विशेष है, जो अनन्त रूप है, वही अरूप है। दूसरे देशों में ईश्वर को कम या अधिक मात्रा में किसी एक विशेष में बाँधने की चेष्टा होती है भारतवर्ष में भी ईश्वर को विशेष में देखने की चेष्टा होती है अवश्य, किन्तु भारतवर्ष उसी विशेष को एकमात्र और चरम नहीं कहता। ईश्वर उस विशेष का भी अनन्त प्रकार से अतिक्रमण करता रहता है, इस बात को भारतवर्ष के कोई भक्त कभी अस्वीकार नहीं करते।' (पृ. 133) निश्चय ही यहाँ रवि बाबू की दृष्टि ही अतीव सुन्दरता से व्यक्त है।

'गोरा' का एक अन्य कथन सुनिए 'मूर्ति क्या है, यह केवल आँखों से देखकर नहीं जाना जा सकता। उससे जिसके मन को शान्ति मिली है, जिसका हृदय तृप्त हुआ

है, जिसके जीवन को सहारा मिला है, वही जानता है कि वह मूर्ति मृण्मय है कि चिन्मय, ससीम है कि अससीम। मैं तुमसे कहता हूँ हमारे देश का कोई भी भक्त ससीम की पूजा नहीं करता।' रवि बाबू की यही पवित्र दृष्टि आनन्दमयी के इन शब्दों में भी व्यक्त हैबेटा ब्राह्म भी कौन हैं, और हिन्दू कौन हैं? मनुष्य के हृदय की तो कोई जात नहीं हैवहीं आकर भगवान सबको मिलाले हैं और स्वयं भी आ मिलते हैं। उन्हें हटाकर मन्तर और मतवाद पर मिलाने का भार छोड़ देने से थोड़े ही चलेगा?' (पृ. 222)

लेकिन यह उदात्त दृष्टि किसी निष्क्रियता की ओर नहीं ले जाती। सभी सत्य हैं, सभी धर्मपंथ समान हैं। यह तर्क देकर आप किसी एक पंथ द्वारा अधर्म को, पाप को, दूसरों के प्रति अकारण अत्याचार और असहिष्णुता को, दूसरों के अकारण तिरस्कार को भी उनकी तथाकथित धर्मदृष्टि ही मानकर चुप रहें, यह पापपूर्ण कुभावरूपी तथाकथित 'सर्वधर्म-समभाव' इसमें से नहीं निकलता। सच्चे सर्वधर्म सम-भाव में सर्व-अधर्म-विरोध भी सम्मिलित है। शान्ति के नाम पर अनीति, अन्याय, अधर्म को ही धर्म कहकर सहना तो मंगलमय नहीं हो सकता। आनन्दमयी कहती हैं

'जहाँ भीतर कहीं अन्याय हो, वहाँ बाहर शान्ति रहना ही सबसे बड़ा अमंगल है' (पृ. 278)।

मिथ्या शान्ति नहीं चाहिए। अन्याय को सहती शान्ति नहीं चाहिए। अकारण अनाचार के प्रति अविरोध सिखाती शान्ति एवं सर्वधर्म सम-भाव नहीं चाहिए। साथ ही अपने मतवाद के दर्प में दूसरों के सत्य का अनादर भी नहीं चाहिए। आपका मत जहाँ तक आपको सत्य की साधना में सत्य की पहचान में सहायता देता है, वहाँ तक वह सर्वथा सम्मानयोग्य है। पर अपने मतवादी दर्प में (मैं किसी भी मतवाद से नहीं बँधा हूँ यह कथन भी एक मतवादी कथन विशेष हो सकता है।) भिन्न मतवालों को मनुष्य ही न मानना तो झूठ का विस्तार ही है। लेखक लिखते हैं

परेश बाबू ने कहा, "सम्प्रदाय ऐसी चीज है कि लोगों को यह जो सबसे सीधी बात है कि इन्सान-इन्सान है, यही भुला देता है। इन्सान ब्रह्म है कि हिन्दू, समाज की गढ़ी हुई इस बात को विश्व-सत्य से बड़ा बनाकर एक झमेला खड़ा कर देता है। मैं भी अब तक इसी झूठ के भँवर में फँसा हुआ था।" (पृ. 285)। हम सभी जानते हैं कि अन्य सभ्यताओं, समूहों, दलों और व्यक्तियों के नृशंस संहार के लिए विगत कुछ सौ वर्षों में यह तर्क बारम्बार अपनाया गया है कि 'दूसरे (अन्य लोग) इन्सान नहीं हैं, फासिस्ट हैं, साम्प्रदायिक हैं, दौड़ते हुए कुत्ते हैं, अविकसित अर्ध बर्बर हैं, अंधकार में डूबे हैं, मूर्ख हैं, जाहिल हैं, गँवार हैं, प्रतिक्रियावादी हैं, मानवता के दुश्मन हैं' आदि। गोया मानवता भी केवल वह है जो अमुक मतवाद की अनुगामिनी है। ज्यां पाल सार्त्र की यह उक्ति प्रसिद्ध है 'दूसरे नरक हैं, जिनसे होकर मुझे गुजरना है।' यह एक विशिष्ट मतवाद की दृष्टि है, यह सर्वविदित है। यह दृष्टि किसी व्यक्ति को स्वयं को

नरक नहीं कहने देती अथवा स्वयं के भीतर का नरक देखने की प्रेरणा नहीं देती। 'अन्यों' को ही नरक देखती है।

दूसरी ओर ऐसे भी लोग हैं, जो अपने समाज के दोष और अनौचित्य से इतने उग्र हो उठते हैं कि स्वयं को इस समाज का सदस्य ही नहीं मानते। रवि बाबू की इस पर जो दृष्टि है, वह यह है

आनन्दमयी ने कहा, 'गालियाँ और निन्दा सब सिर-माथे पर लेकर भी मैं इस घर, इस समाज को अपनाए हुए हूँ। इसमें मुझे तो ऐसी कोई कठिनाई नहीं दिखती। कभी ऐसी मुश्किल आ ही गई कि और ऐसे न चल सका, तब ईश्वर जो रास्ता दिखाएँगे, उसी पर चल पड़ूँगी लेकिन अन्त तक जो मेरा है, उसको अपना ही कहूँगी, वही यदि मुझे स्वीकार न करे तो वह जाने।' (पृ. 299)

सुचरिता सिर झुकाए बैठी रही। आनन्दमयी ने कहा, 'तुम्हारा ब्राह्म समाज भी क्या मनुष्य से मनुष्य को नहीं मिलने देगा? ईश्वर ने भीतर से जिनको एक बनाया है, तुम्हारा समाज बाहर से उन्हें अलग कर रखेगा? जो समाज छोटे अनमेल नहीं मानता, वह बड़े मेल में सभी को मिला देता है, वह समाज क्या दुनिया में कहीं नहीं है? ईश्वर के साथ मनुष्य क्या ऐसे झगड़ा ही करता रहेगा? समाज नाम की चीज क्या केवल इसीलिए बनी है?' (पृ. 300)

भिन्न-भिन्न, चित्र-विचित्र प्रकार के वाक्य गढ़कर उस प्रत्यक्ष सत्य को ढँका नहीं जा सकता जब आप अन्यों को अपने समकक्ष मनुष्य मानने को ही तैयार न हों। क्योंकि वाक्य कितने भी सुन्दर हों, कितनी भी दक्षता से गढ़े गए हों, कैसी भी कुशल वाक्य-योजनापूर्वक प्रस्तुत किए गए हों, मनुष्य का मन उनके पार सत्य को देख लेता है, भले वह वाक्यों में ही उनका उत्तर वैसी दक्षता से न दे पाए। अंग्रेजों ने भी वाक्य तो यही प्रस्तुत किए थे कि वे 'भारत को महान बना रहे हैं', कि 'क्रान्तिकारी लोग हिंसा के द्वारा देशद्रोह कर रहे हैं और अंग्रेज उनसे भारत की रक्षा कर रहे हैं' कि 'गाँधी ब्रिटिश सुशासन के विरुद्ध असन्तोष भड़काकर शान्ति एवं सुव्यवस्था बिगाड़ रहे हैं', आदि। परन्तु इन कुशल वाक्यों का साथ जिन भारतीयों ने दिया, वे भी इन वाक्यों का असत्य जानते थे, अंग्रेजों का साथ तो वे अपनी निजी लिप्साओं के लिए दे रहे थे। शेष समस्त देशवासी तो इन वाक्यों का असत्य जानते ही थे। रवि बाबू ने इसी दार्शनिक तथ्य को यों स्पष्ट किया है 'केवल वाक्य ही सब कुछ नहीं हैं, मनुष्य का मन नाम की भी एक चीज है।' (पृ. 346)

उपन्यास की कथा और कथा में व्यक्त सम्पूर्ण जीवन के अविच्छिन्न अंग की तरह ही विचार को भी देखा जाना न्याय होगा। विचार मानव-जीवन का रास्ता नहीं है, हो ही नहीं सकता। क्योंकि मनुष्य के भीतर विचार प्रत्यक्षतः परिवर्तनशील हैं। विचार सत्य की छवियाँ हैं। पर वैसी ही छवियाँ तो सत्य की और भी अनेक हैं अनुष्ठान, भाव, रस, श्रद्धा, धर्म-बोध, इतिहास, राष्ट्र-जीवन, सृष्टि आदि।

परन्तु 40 वर्षों बाद, जब मैंने 'गोरा' का अज्ञेयजीकृत यह अनुवाद दुबारा पढ़ा तो कई अन्य विचार भी उभरने लगे। ब्राह्म समाज का बंगीय भद्रलोक में उदय गहरे स्तर पर क्या व्यंजित करता है? शायद यही कि बलपूर्वक यदि राज्यसत्ता किन्हीं बिचारों को प्रजा के एक सबल सम्पन्न वर्ग में आरोपित कर दे तो धीरे-धीरे वे विचार समाज में छा जाते हैं। अपनी सम्पूर्ण परम्परा, संस्कृति, चिन्तन, धर्मसभी की विस्मृति हो जाती है। ब्राह्म समाज का उदय मानो बंगाल में कम्युनिज्म के प्रसार की पूर्वघटना है, उसका बीज रूप हैगहरी आत्मविस्मृति, देश और विश्व का अद्भुत अज्ञान, अपनी संकीर्ण धारणाओं का प्रचण्ड उन्माद और उनके प्रति विस्मयप्रद आत्मविश्वास। उससे उपजे भाँति-भाँति के मिथक, प्रतीक, नारे, स्वप्न, मनोयोजनाएँ तथा इनसे प्रेरित, जटिल संगुम्फित प्रबल गतिविधियाँ, उन पर आश्चर्यजनक आत्मगौरव, भयावह जड़ता और उस पर दिलचस्प दर्प।

परन्तु इसका दूसरा पक्ष भी है और वह भी उतना ही महत्वपूर्ण है। हिन्दू धर्म और समाज में वे कौन-सी कमियाँ आ गईं, जिनसे राज्यप्रेरित शिक्षा का ऐसा व्यापक प्रभाव हो सका और घर-परिवार तथा समाज की अनौपचारिक शिक्षा-परम्परा प्रभावशून्य ही हो गई? मानव-मन का निर्माण क्या मुख्यतः औपचारिक शिक्षा और संचार-माध्यमों, राजकीय संरक्षण में पोषित कला-रूपों एवं मनोरंजन-माध्यमों से ही होता है? ज्ञान के पारिवारिक-सामाजिक संस्कार क्या इतने उथले होते हैं? श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, भगवती काली की विराट उपासना-परम्परा, वैष्णव चेतना की हजार-हजार अभिव्यक्तियाँकुछ भी क्या बंगीय और भारतीय मानव-मन को गहरे में छू ही नहीं पाए? राज्य के एक प्रबल धक्के ने, राज्यपोषित शिक्षा और संचार माध्यमों के मकड़जाल ने उन सभी ज्ञान-संस्कारों का विलोप ही कर दिया? कम्युनिज्म तथा हिन्दुत्वद्रोही अन्य मतवाद इतनी तीव्रता और प्रगल्भता से कैसे छा गए? तो क्या राज्य ही मुख्य शक्ति है, राज्य की सर्वाधिकारी शक्ति ही सर्वोच्च शक्ति है? यदि हाँ, तो हिन्दू समाज अपने किसी राज्य की वैसी इच्छा क्यों नहीं कर पाता, जैसी इच्छा आस्थावान मुसलमान, आस्थावान ईसाई और आस्थावान कम्युनिस्ट प्रबलता से करते हैं? क्या हिन्दू एक मरणशील समाज है? क्या वह अपने रूपान्तरण के लिए निरीह, अवश, समर्पण भाव से यों प्रस्तुत है? क्या उसमें अपने प्रगल्भ शत्रुओं के प्रचार के प्रति ऐसी गहरी प्रमाण-भावना है कि सत्य का परीक्षण करने की इच्छा ही नहीं उभरती। ईसाइयत, इस्लाम और कम्युनिज्म के नाम पर भी तो भयंकर भेदभाव, ऊँच-नीच का फैलाव हुआ है। विश्व-इतिहास के ये मान्य तथ्य हैं। परन्तु उनमें से कोई भी आत्म-विलोपन के लिए, आत्म-रूपान्तरण के लिए, आत्म-विस्मरण के लिए ऐसे निरीह भाव से प्रस्तुत-समर्पित नहीं है। आखिर उनका बल क्या है?

और हिन्दुओं की मुख्य आन्तरिक कमजोरी क्या है? अपने राज्य का अभाव? राज्य द्वारा हिन्दू धर्म को संरक्षण का अभाव? हिन्दुत्व को विशेषतः कलंकित बताने वाली चालू शिक्षा का प्रभाव? भारतीय इतिहास के सम्पूर्ण अज्ञान का और इस्लाम, ईसाइयत तथा कम्युनिज्म के प्रोपेगंडा को ही इतिहास मान लेने की निरीह बौद्धिक द्रिद्रताजन्य कातरता का परिणाम? ईसाइयत के विरुद्ध उठे महान यूरोपीय बौद्धिक जागरण के पूर्ण अज्ञान का प्रभाव? 'बौद्धिक जागृति के उपरान्त फैली वैज्ञानिक चेतना' से ईसाइयत के 'अज्ञान-जन्य साम्प्रदायिक तथा साम्राज्यवादी उन्माद' का अन्तर न जानने की मूढ़ता का परिणाम? जो आधुनिक पश्चिमी प्रज्ञा भारत के सनातन धर्म की मित्र है और उसके प्रति खुली जिज्ञासा रखती है उसका घोर-अज्ञान? और ईसाई पादरियों द्वारा की जा रही उसकी निन्दा का विमूढ़ अनुसरण? प्रधानतः आध्यात्मिक जिज्ञासा से परिचालित यूरोप को भौतिकवादी कहना और मानने की बौद्धिक उद्वेगिता और विकृति? विश्व के विषय में भयावह अज्ञान का प्रभाव?

गाँधीजी ने सनातन धर्म के एक धर्मयोद्धा के रूप में तत्कालीन ब्रिटिश सभ्यता को पश्चिमी सभ्यता कहकर उसे शैतानी कह दिया तो उसका तात्कालिक रणनीतिक महत्त्व न जानकर तोते की तरह रटे जाना? और एक काल्पनिक शैतानी सभ्यता का शाब्दिक विरोध मात्र करते हुए उसी के दीन-हीन एजेंट या उसी के शौकीन व्यापारी अर्थात् समकालीन नेताओं-अफसरों का दैन्यपूर्वक अनुसरण करने की हीन बौद्धिक दशा? भारतीय राज्य को यूरोप के किसी भी देश की तरह बहुसंख्यकों के धर्म का अधिकृत संरक्षक बनाने वाला संविधान सम्मत कानून लाने की जगह कभी संविधान पर, कभी (काल्पनिक) भौतिकवाद पर, कभी समाज पर दोषारोपण कर हल्के हो जाने का तमस और प्रमाद? भारतीय धर्माचार्यों के अनुयायियों में हिन्दू धर्म को राज्य अपेक्षित संरक्षण दिलाने में अरुचि या उदासीनता तथा इस विषय में ईसाई पादरियों और मुस्लिम मौलवियों तथा उनके अनुयायियों से बौद्धिक रूप में पिछड़े, आध्यात्मिक रूप में आत्मकेन्द्रित तथा राजनैतिक रूप में अज्ञ होने की समकालीन स्थिति? 18वीं शताब्दी के एक यूरोपीय बौद्धिक परिशिष्टकम्युनिज्मके प्रति दारुण दर्प, अज्ञान से परिपूर्ण आत्मगौरव और नशे जैसी मनोदशा में विभोर शिक्षित उच्च-मध्यवर्ग का भारतीय राजनीति में वर्चस्व? मुस्लिम एवं ईसाई साम्राज्यवादी दबावों से शताब्दियों बाद राहत पाने से खुली साँस लेने और मौज करने में मगन हिन्दू मध्यवर्ग का सांस्कृतिक-राजनैतिक आलस्य एवं प्रमाद? या कुछ और? आखिर क्या?

समकालीन भारत में हिन्दुओं की कमजोरी के कारण पर तो मनन होना ही चाहिए। इस पर भी मनन होना चाहिए कि हिन्दी क्षेत्र के आचार्य नरेन्द्रदेव के बाद एकमात्र सच्चे और बड़े कम्युनिस्ट नेता (जिन दोनों के विरोध में ही गाँधीजी ने 1934 ईस्वी में कांग्रेस छोड़ी थी) श्री जयप्रकाश नारायण ने क्वांटम भौतिकी के वैज्ञानिक तथ्य सामने आने पर और उससे न्यूटॉनियन मॉडल की अवधारणाओं के आधार

समाप्त हो जाने पर उन पर आधारित सोशल इंजीनियरिंग, 'मासेज' के रूपान्तरण आदि विचारों वाले कम्युनिज्म को तिलांजलि देकर 'सोशललिज्म से सर्वोदय की ओर' शीर्षक प्रसिद्ध व्याख्यान देकर और लेख लिखकर घोषणा की कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की देवी के चरणों में वर्षों भक्तिपूर्वक बैठकर बिताने के बाद मैं यह सत्य जान गया हूँ कि ईश्वर, आत्मा और पुनर्जन्म में श्रद्धा के बिना नैतिक समाज की स्थापना और गतिशीलता असम्भव है, तब भी स्वयं को बौद्धिक स्तर पर कम्युनिज्म से प्रभावित बता रहे या मान रहे बौद्धिकों ने जेपी की उस महत्वपूर्ण घोषणा को विचार योग्य तक क्यों नहीं माना? यहाँ तक कि जेपी ने इसी दृष्टि से जो एकमात्र शोध संस्थान बनाया उसमें भी कम्युनिस्ट दृष्टि से ही शोधकार्य होने लगे, ऐसा क्यों?

क्या कारण है कि बंगाल में दिग्गज बौद्धिकोंबंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री अरविन्द आदि की, मराठी में वीर सावरकर जैसी विराट प्रतिभा की और हिन्दी में प्रसाद, निराला, मैथिलीशरण गुप्त, महादेवी के बाद अज्ञेय जैसी बड़ी प्रतिभा की मानो कोई छाप ही बाकी नहीं है। सभी जगह अठारहवीं शताब्दी के मतवादकम्युनिज्म का ही दीन-हीन अनुसरण या कहें, क्षीण-मंद, विकल-विकृत गायन ही चल रहा है? न तो अज्ञेय के समर्थ चिंतन पर उस स्तर के आयोजन हुए, जैसे होने चाहिए थे, न रवीन्द्रनाथ के 'गीतांजलि' और 'गोरा' पर, न महामना मालवीय के चिन्तन और कर्म पर, न डॉ. लोहिया और जयप्रकाश नारायण के अन्तिम दौर के चिन्तन और कर्म पर। उल्टे, इन सबके नाम पर भी वे ही बातें हवा में गूँजती रहीं, जो वस्तुतः कम्युनिज्म और नेहरूई समाजवाद के साथ सतही पश्चिम यूरोपीय अनुसरणमूलकता के विचित्र संस्करण से उपजी बातें हैं? क्या यह भारतीय शिक्षा में बौद्धिक प्रतिभा को नगण्य और तकनीकी अनुसरण तथा यूरो-अमेरिकी 'स्टाइल्स' की नकल को ही उच्चतम महत्त्व दिए जाने का परिणाम है? क्या हिन्दू जाति अब पुनः बौद्धिक रूप से वैसी समर्थ न होगी, जैसी राजनीति में गाँधी, लोहिया, जेपी, सावरकर आदि के समय तक अभी थोड़े दिन पहले तक थी, दर्शन में स्वामी दयानन्द, श्री अरविन्द और स्वामी विवेकानन्द के समय तक थी तथा हिन्दी साहित्य में प्रसाद, निराला, और अज्ञेय के समय तक, बांग्ला साहित्य में बंकिम से रवीन्द्रनाथ तक के समय में थी?

'गोरा' का चिन्तन आज किसी भी उपन्यास के नायक का चिन्तन क्यों नहीं है? और हिन्दुत्व से गहरा तिरस्कार भाव पाल रहे ब्राह्मों लोगों का ही चिन्तन आज के अनेक उपन्यासों के नायकों-नायिकाओं का चिन्तन क्यों है? ये प्रश्न 'गोरा' को केन्द्रित कर उभरते हैं। इन प्रश्नों से बचने के लिए ही क्या हिन्दी क्षेत्र ने 'गोरा' पर व्यापक चर्चा इस शताब्दी वर्ष में भी नहीं की?

हिन्दी उपन्यासों में भारतीयता**

नन्दकिशोर आचार्य*

भारतीयता क्या है? क्या भारतीयता एक दर्शन है, या समाज व्यवस्था के कुछ सूत्र जिनकी अभिव्यक्ति की अपेक्षा साहित्य से की जाती है? यह एक स्थिर प्रत्यय है या गत्यात्मक? यदि संस्कृति एक निरन्तर गत्यात्मक प्रक्रिया है तो हम किसी स्थिर निरूपण को भारतीयता नहीं कह सकते। एक सवाल और भी उठता है : क्या साहित्य किसी पूर्व निरूपित प्रत्यय की अभिव्यक्ति मात्र है अथवा जैसा कि हडसन पूछता है, *केवल राष्ट्रीय मनोविज्ञान के इतिहास का एक दस्तावेज?* क्या साहित्य के प्रसिद्ध इतिहासकार *तेन* का जाति, युग और क्षण का प्रसिद्ध सूत्र साहित्य की व्याख्या करने के लिए पर्याप्त है? निश्चय ही तेन द्वारा प्रस्तावित तीनों ही तत्त्वों का साहित्य-रचना में महत्त्व है, लेकिन, लेखक की सर्जनात्मकता और अन्वेषक प्रतिभा की भूमिका का क्या? क्या साहित्य संस्कृति की अभिव्यक्ति मात्र है, उसका सृजन नहीं? वह दर्शन का भावात्मक समकक्ष मात्र है या मानव सत्य के अन्वेषण की एक स्वायत्त अनुभूत्यात्मक प्रक्रिया है, जो अपनी विधि से सत्य का निरूपण करती है?

भारतीय साहित्य की भूमिका सांस्कृतिक अभिव्यक्ति तक सीमित नहीं रही हैबल्कि भारतीय चिन्त के सृजन में उसकी केन्द्रीय भागीदारी है। *रामायण* और *महाभारत* दोनों ही महाकाव्यों ने भारतीय चिन्त के सृजन में किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय या पद्धति की अपेक्षा अधिक रचनात्मक भूमिका निबाही है और कालिदास का योगदान भी इतना महत्त्वपूर्ण है कि एक आधुनिक कवि आलोचक विजयदेव नारायण साही तो भारतीय जीवन की लय को *कालिदासीय लय* की संज्ञा देते हैं, जो अनेक ऐतिहासिक विक्षेपों के बावजूद अभी भारतीय चिन्त में धड़कती है। एक आधुनिक योगी, दार्शनिक तथा कवि श्री अरविन्द भी *रामायण*, *महाभारत* तथा *कालिदास* के लेखन में उस *तपस्* या लौकिक जीवन के पावनीकरण और साधारण

*सुधारों की बड़ी गुवाड़, बीकानेर 334005, मो. 09413381045

**यह आलेख बेल्लिजयम के गेंट विश्वविद्यालय में आयोजित संगोष्ठी में प्रस्तुत पत्र है।

जीवन में ही आत्यन्तिक सत्य या आत्मन् के अनूभूत्यात्मक अन्वेषण की इसी प्रक्रिया का साक्षात्कार कर पाते हैं। *कालिदासीय लय* की व्याख्या करते हुए साही भी उसे एक नैतिक विज्ञ की तरह परिभाषित करते हैं। जहाँ एक पावन जीवन की प्रस्तावना के रूप में शक्ति का नैतिकता में विलय सम्भव होता है। हम यहाँ उस सम्पूर्ण भक्ति काव्य का भी स्मरण कर सकते हैं। जिसकी भी भारतीय चिन्त के निर्माण में इतनी ही सार्थक भूमिका रही है। कई दृष्टियों से भिन्न होते हुए भी कबीर और तुलसी जीवन में इस तपस् अथवा लौकिक के पावनीकरण को लेकर एकमत हैं।

गद्यात्मक कथा के रूप में उपन्यास निश्चय ही यूरोपीय साहित्य के प्रभावस्वरूप हिन्दी या भारतीय भाषाओं में विकसित एक नया कथा-रूप है, लेकिन इस बात की भी अनदेखी नहीं की जा सकती कि हमारे महाकाव्य भी पद्यात्मक कथा-रूप हैं और इस अर्थ में उपन्यास एक आधुनिक विधा होते हुए भी हमारी महाकाव्यों की कथा परम्परा का ही उत्तराधिकारी है और इस नाते भारतीय जीवन की *कालिदासीय लय* के नए रूपों के अन्वेषण के लिए उत्तरदायी भी।

यहाँ इस संयोग की ही अनदेखी नहीं की जा सकती कि भारतीय और हिन्दी उपन्यास का विकास औपनिवेशिक दासता से संघर्ष के साथ-साथ हुआ है संघर्ष केवल राजनीतिक दासता से ही नहीं, सांस्कृतिक-मानसिक दासता से भी, जो आर्थिक, सांस्कृतिक हिंसक संरचनाओं का परिणाम थी। जब साही महात्मा गाँधी को हिन्दुस्तान की जिन्दगी की लय की पूर्ण अभिव्यक्ति कहते हैं, तो उनका संकेत गाँधी जी द्वारा इस तपस् के पुनराविष्कार ही नहीं, उसके नए रूपों और आयामों की पूर्व शर्त *साधन की पवित्रता* है क्योंकि यही वह बात है जो हमें तत्काल नैतिक अर्थात् भविष्य की प्रतीक्षा के बिना ही स्वतंत्र कर देती है।

मैं इस परिप्रेक्ष्य में हिन्दी के तीन महत्वपूर्ण उपन्यासों का विवेचन प्रस्तावित करता हूँ : प्रेमचन्द का *गोदान*, जैनेन्द्र का *त्यागपत्र* तथा अज्ञेय का *अपने-अपने अजनबी* यद्यपि हिन्दी के प्रथम उपन्यासकार माने गए लाला श्री निवासदास के *परीक्षा गुरु* भी, प्रकारान्तर से, जीवन में इस नैतिक विज्ञ की केन्द्रीयता को ही केन्द्र में रखता है।

बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे एक पत्र में अपने जीवन के अन्तिम चरण में प्रेमचन्द स्वीकार करते हैं कि वह *स्वराज्य* के लिए लिखना चाहते हैं। महात्मा गाँधी द्वारा आविष्कृत इस *स्वराज्य* पद का तात्पर्य केवल राजनीतिक स्वाधीनता नहीं है। उनका आशय एक नैतिक विज्ञ से है। प्रेमचन्द अपने एक महत्वपूर्ण निबन्ध *स्वराज्य के फायदे* में कहते हैं कि केवल स्वराज्य के माध्यम से ही हम अपनी विस्मृत आत्मा को पुनरुपलब्ध कर सकते हैं। प्रेमचन्द जब धर्म पद का प्रयोग करते हैं, तो उनका आशय कभी भी हिन्दू धर्म, इस्लाम या ईसाइयत जैसे ऐतिहासिक धार्मिक सम्प्रदायों से नहीं, बल्कि एक नैतिक आचार संहिता से होता है, जो वास्तविक *स्वराज्य* की नींव

है तथा इस नैतिकता और धर्म की आवाजें आत्मा के जागरण के लक्षण हैं, मिलान कुन्देरा ने भी कहीं उपन्यास को *आत्मा* या *आत्म की तलाश* के अर्थ में परिभाषित किया है।

गोदान राजनीतिक स्वाधीनता के संघर्ष की गाथा नहीं है। यह एक किसान परिवार की व्यथा-गाथा है, जो सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक हिंसा का शिकार है। होरी को इस उपन्यास का नायक या केन्द्रीय चरित्र माना जाता है। लेकिन, मेरी सम्मति में इस उपन्यास का केन्द्रीय चरित्र होरी की पत्नी धनिया है क्योंकि प्रेमचन्द का काम्य नैतिक विज्ञ अथवा अन्याय के खिलाफ सकारात्मक आवाज उसी के माध्यम से व्यंजित होती है। एक पीड़ित होते हुए भी होरी एक अन्यायपूर्व आर्थिक व्यवस्था तथा मृत सामाजिक रूढ़ियों को स्वीकार कर लेने की ओर अग्रसर दिखाई पड़ता है, लेकिन, उसकी पत्नी धनिया अन्यायी एवं जड़ आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह के स्वर मुखरित करती दिखाई देती है।

वह इस अवस्था के विरुद्ध एक अहिंसक विरोधी का रूप है एक सत्याग्रही जो न केवल अन्याय के प्रति असहयोग बल्कि न्याय के साथ सकारात्मक सहयोग का रास्ता स्वीकार करती है। वह गोबर के भाग जाने के बाद सामाजिक रूढ़ियों और निन्दा अथवा सामाजिक दंड की परवाह न करते हुए झुनिया को अपनी पुत्रवधू के रूप में स्वीकार कर लेती है। होरी ऐसा करने के पक्ष में नहीं है, लेकिन धनिया झुनिया को न्याय दिलाने के लिए कटिबद्ध है। इसी तरह, सिलिया के साथ मातादीन का सम्बन्ध ग्राम समाज द्वारा अनुमोदित नहीं होने पर भी धनिया उसकी सहायता के लिए आगे आती है एवं उसे अपने घर में शरण देती है। उसका यह आचरण इस बात को पुष्ट करता है कि धर्म अथवा नैतिकता मृत सामाजिक रूढ़ियों के पालन में नहीं, बल्कि पीड़ित का साथ देने में है।

यहाँ हम महाभारत के द्रौपदी के चीर हरण वाले दृश्य का स्मरण कर सकते हैं, जहाँ धर्म के सभी ज्ञानी चुप हैं तथा सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी युधिष्ठिर द्रौपदी को दाँव पर लगाने को धर्मसम्मत मानते हैं वहीं कृष्ण द्रौपदी की सहायतार्थ प्रस्तुत होते हैं। कृष्ण धर्म का मूर्त स्वरूप हैं, क्योंकि महाभारत की मूल प्रतिज्ञा ही यह है कि जय वहीं है, जहाँ धर्म है और धर्म वहीं है जहाँ कृष्ण हैं और कृष्ण इस प्रसंग में द्रौपदी के साथ हैं अर्थात् धर्म द्रौपदी के साथ है, चाहे शास्त्रोक्त नैतिक संहिता कुछ भी कहती रहे। धर्म-पीड़ित को पीड़ामुक्त करना है। होरी एक निष्क्रिय पीड़ित है, जबकि उसकी सहपीड़ित धनिया अन्याय के खिलाफ सक्रिय कदम उठाती है चाहे वे कदम कितने छोटे हों। उपन्यास के अन्त में होरी की मृत्यु हो जाने पर *गोदान* के रूप में धनिया की हथेली से गिरने वाले सिक्के इस आत्माहीन व्यवस्था की असलियत को उजागर करते हुए पाठक के मन में ऐसी व्यवस्था के विरुद्ध सक्रिय होने का भाव प्रेरित करते हैं।

जैनेन्द्र अपने उपन्यास *त्यागपत्र* में इस नैतिक विज्ञान का एक नया आयाम आविष्कृत करते हैं। अपने एक निबन्ध में वह संस्कृति की एक नैतिक आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए कहते हैं कि स्वयं को विश्व के केन्द्र में मानना असंस्कृत होना है। अहंशून्यता के भाव में रहना ही संस्कृति है। अहंवाद से अहंशून्यता की ओर बढ़ना ही असांस्कृतिक अवस्था से संस्कृति की ओर अग्रसर होना है। अहंकेन्द्रीयता और अस्मिता-संघर्ष के इस दौर में जैनेन्द्र अहंशून्य होकर जीने का आग्रह करते हैं। उनके उपन्यासों के केन्द्रीय चरित्र इसी अहंशून्यता की साधना में रत दिखाई देते हैं।

यह जैनेन्द्र द्वारा उसी *विस्मृत आत्म* की पुनरुपलब्धि का प्रयास है। जिसका जिक्र प्रेमचन्द *स्वराज्य के फायदे* में करते हैं। अन्य के लिए स्वयं का बलिदान ही वह *यज्ञ* अथवा *तपस्* है, जिसका आग्रह कालिदास करते हैं। यह *मम* और *ममेतर* के भेद का विलोप है। मार्टिन बूबर *आई-इट* और *आई-दाऊ* सम्बन्ध विधान की बात करते हैं। जैनेन्द्र *मैं-पन* के विलोपन का आग्रह करते हैं जिसका स्वाभाविक परिणाम शुद्ध अस्तित्व की अनुभूति का उदय है। उल्लेखनीय है कि जैनेन्द्र सत्ता की नहीं शून्यता के अनुभव की बात करते और अस्तित्वानुभव के साथ रखते हैं। अन्य के लिए कष्ट सहन ही सत्याग्रह है, जिसे महात्मा गाँधी सत्य-बल अथवा आत्मबल कहते हैं, जो सत्य या आत्म की अनुभूति की ओर ले जाता है।

त्यागपत्र की मृणाल जैनेन्द्रीय सत्याग्रह की इस अवधारणा का मूर्तिमान रूप है। मृणाल अपने पति द्वारा परित्यक्त है, लेकिन वह पत्नी के अपने अधिकार का कोई दावा नहीं करती। उसका आत्मसम्मान उसे ऐसा दावा करने से रोकता है क्योंकि यदि उसका पति उसे पत्नी ही नहीं मानता तो वह उससे शरण या सहायता का दावा क्यों करे! वह एक कोयले वाले के साथ रहना स्वीकार कर लेती है। यह जानते हुए भी कि एक दिन वह अपने परिवार में लौट जाएगा। बल्कि चाहती है कि वह लौट जाए। वह न अपने पति से विश्वासघात करती है न कोयले वाले से। उसने जो मार्ग चुना है वह अबाध पीड़ाओं से भरा होने पर भी सत्य की ओर ले जाने वाला है। जब उसका भतीजा प्रमोद उसे अपने घर ले जाने के लिए आता है, तो वह उसे पूरा स्नेह करते हुए भी उसके साथ जाना अस्वीकार कर देती है क्योंकि वह अन्य पीड़ित व्यक्तियों के साथ रहकर उनके लिए कुछ करते रहने में सुख अनुभव करती है। उसे अपने आचरण के लिए सामाजिक निन्दा की कोई परवाह नहीं है क्योंकि वह जानती है कि उसका रास्ता ही सत्य का रास्ता है।

नैतिकता किन्हीं सामाजिक रूढ़ियों के निर्वाह में नहीं, अपने प्रति सच्चा होने में है। यह एक भिन्न किन्तु उच्च एवं गहरी नैतिकता है जो सभी प्रचलित नैतिकताओं का अतिक्रमण करती हुई नैतिकता के मूल तक पहुँचती है। सबके प्रति एक अहंशून्य प्रेम, जो शून्यता की अनुभूति साधना तथा आत्मा या सत्य को पाने का उद्यम है, यही

संस्कृति है, धर्म है, भारतीयता है। अपने एक पत्र में पुनर्जन्म के बारे में चर्चा करते हुए महात्मा गाँधी ने जैनेन्द्र को लिखा था कि *मैं-पन* के विलोप के साथ ही पुनर्जन्म के मसले का भी विलोप हो जाता है, क्योंकि जब मैं ही नहीं रहा, तो पुनर्जन्म किसका होगा! इसलिए जब मृणाल जैसे चरित्र इस *मैं* को मिटा पाने की साधना करते हैं, तो वह प्रकारान्तर से परम आत्म की अनुभूति की साधना-प्रक्रिया हो जाती है। यहाँ महात्मा गाँधी के इस कथन का स्मरण भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि नैतिकता और आध्यात्मिकता को विलग नहीं किया जा सकता और नैतिक ही आध्यात्मिक है।

यह स्वाभाविक ही है कि एक स्वातन्त्र्य सेनानी अज्ञेय के लेखन का केन्द्रीय सरोकार स्वतन्त्रता का अन्वेषण होता है। एक लेखक के रूप में वह राजनीतिक से लेकर आध्यात्मिकता तक स्वतन्त्रता के सभी रूपों का अन्वेषण करते हैं। अज्ञेय के लिए स्वतन्त्रता का अर्थ समाज से स्वतन्त्र होना नहीं है, बल्कि समाज में स्वतन्त्र होना है। अपनी स्वतन्त्रता की पूर्व शर्त अन्य की स्वतन्त्रता का सम्मान है। अस्तित्ववादी सार्त्र का प्रसिद्ध कथन है : *अन्य नरक है।* इसके बरक्स अज्ञेय का सूत्र है *अन्य स्वतन्त्रता है।*

उनके पहले उपन्यास *शेखर* : *एक जीवनी* में उनका अन्वेषण मूलतः वैयक्तिक और सामाजिक राजनीतिक स्वतन्त्रता के क्षेत्र में है। दूसरे उपन्यास *नदी के द्वीप* में वह अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों में स्वातन्त्र्य का अन्वेषण करते हैं, जहाँ उनके लिए *फुलाफिलमेंट* का तात्पर्य है किसी अन्य के लिए उसके जीवन की सार्थकता की अनुभूति का माध्यम हो जाना। अपने तीसरे उपन्यास *अपने-अपने अजनबी* में स्वतन्त्रता का एक और गहरा और आध्यात्मिक आयाम उजागर होता है स्वतन्त्ररहित प्रेम, करुणा और क्षमा में। यहाँ वरण की स्वतन्त्रता कसौटी नहीं है। दो महिलाएँ युवा योके और वृद्धा सेल्मा एक काठघर में बन्द हैं, जो बर्फ के नीचे दब गया है। योके असहिष्णु और क्षुब्ध है क्योंकि यह उसका चुनाव नहीं है। वह उस सेल्मा की उपस्थिति को भी बर्दाश्त नहीं कर सकती, जिसके घर में स्वयं उसे शरण मिली हुई है और उसकी हत्या करने की कोशिश भी करती है। सेल्मा वृद्ध, बीमार और मृत्यु के सन्निकट होते हुए भी शान्त और अविचलित रहती है। कभी वह भी एक स्वकेन्द्रित व्यक्ति थी। लेकिन, जीवन के अनुभवों ने उसे सिखा दिया है कि हम अपनी परिस्थिति को चुनने के लिए सदैव स्वतन्त्र नहीं होते, लेकिन, उनके प्रति अपने रवैये का चुनाव हम ही करते हैं।

वास्तविक स्वतन्त्रता अहंकेन्द्रित वरण में नहीं बल्कि अहंकार से मुक्ति में है। अहंकेन्द्रीयता से मुक्त होने के कारण ही वह न केवल योके को क्षमा कर देती है, बल्कि उससे स्वयं क्षमा माँगती है क्योंकि उसकी उपस्थिति योके के क्षोभ की वजह है। मानवीय सम्बन्धों में इस क्षमा की अनुभूति ही ईश्वर की अनुभूति है। उपन्यास

के अन्त में योके स्वातन्त्र्य के अपने अबाध आग्रह के चलते मृत्यु का वरणआत्महत्या करती है। लेकिन, साथ ही ईश्वर को क्षमा कर देती है। अहंकेन्द्रित वरण और क्षमा यहाँ एक साथ हैं।

अज्ञेय इस उपन्यास में अहंकेन्द्रित वरण की चरम सम्भावना तथा अहंशून्य स्वातन्त्र्य की सम्भावनाओं को आमने-सामने रखते हुए आत्मानुभव या ईश्वरानुभूति को क्षमा के रूप में अन्वेषित करते हैं। यह क्षमा उस निर्व्यक्तिक प्रेम और करुणा की अभिव्यक्ति है, जो सत्याग्रह की बुनियादी शर्तें हैं, जिनका अन्वेषण इस उपन्यास में अज्ञेय एक आध्यात्मिक रूप और आयाम में करते हैं। लेखक के मन्तव्यानुसार सेल्मा भारतीय दृष्टि की प्रतिनिधि है और योके प्रचलित अहंकेन्द्रित दृष्टिकोण की। यह कल्पना की जा सकती है कि संवेदना-यात्रा के रूप में सेल्मा शेखर की तलाश की ही मंजिल है।

क्या यह एक संयोग ही है कि यहाँ विवेचित सभी चरित्र नारी चरित्र हैं? क्या इस बात का कोई सम्बन्ध महात्मा गाँधी के इस विचार से भी है कि स्त्रियाँ स्वभावतः पुरुषों की अपेक्षा अधिक सत्याग्रही होती हैं? क्या यह शकुन्तला की वेदना और पार्वती का *तपस्* है, जिन्होंने भारतीय जीवन की उस *लय* को रचा है, जिसे साही *कालिदासीय लय* कहते और उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति महात्मा गाँधी में पाते हैं? क्या ये नारी-चरित्र *धनिया*, *मृणाल* और *सेल्मास्वयं* महात्मा गाँधी के ही औपन्यासिक अवतार हैं?

हिन्दी वर्तनी की समस्याएँ

धर्मदेव तिवारी*

हिन्दी बोलने में असावधानी होती है, वह सहन करने के लायक है, क्योंकि जिस भाषा का जितना अधिक विस्तार होता है, उसके व्यवहार में, बोलचाल में विविधता का आ जाना न तो असंगत है और न असंभव। यथा, अंग्रेजी भाषा। यह भाषा आज अन्तरराष्ट्रीय भाषा बन गई है, पर उसके उच्चारण आदि में जो विविधता है, वह किसी से छिपी नहीं है। चीन, जापान, भारत, इंग्लैंड, अमेरिका आदि प्रत्येक देश के उच्चारण में अनेकरूपता तो है ही साथ ही एक ही राष्ट्र में भी उच्चारण की दृष्टि से विविधता पाई जाती है। यथा, बिहार, उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु, बंगाल, असम आदि प्रत्येक प्रान्त की अंग्रेजी का उच्चारण भिन्न-भिन्न है। अतः यह सिद्धान्त निरूपित होता है कि जिस भाषा का जितना अधिक विस्तार होगा, उसके उच्चारण में उतनी ही अधिक भिन्नता आएगी, किन्तु लेखन में वर्तनी की एकरूपता बरकरार रहती है। यह दूसरी बात है कि अमेरिका ने अंग्रेजी की वर्तनी बदल दी है। उसने देवनागरी के उच्चारणरूप लेखन के वैशिष्ट्य के अनुसार अंग्रेजी की वर्तनी में सुधार किया है। यह सच है कि विश्व की समस्त लिपियों में देवनागरी लिपि अपनी वैज्ञानिकता के लिए प्रसिद्ध है और वह उच्चारण के अनुसार ही लिखी जाती है। इसी विशेषता के कारण उसकी वर्तनी में एकरूपता है, पर आज अंग्रेजों के दलाल या अंग्रेजी के व्यामोह के कारण हिन्दी की वर्तनी को जानबूझकर या अज्ञान या असावधानी के कारण गलत लिख रहे हैं। यही हिन्दी का दुर्भाग्य है। कुछ लोग जो वर्तनी को बिगाड़ रहे हैं, उन्हें उस बिगड़ी हुई और अशुद्ध वर्तनी में हिन्दी का विकास नजर आता है। यदि अनाचारिता और नियम विरुद्धता ही विकास है, तो मानव को न्यायविरुद्ध आचरण करने पर दण्डित क्यों किया जाता है। नियम दोनों तोड़ रहे हैं। नियम तोड़ने वालों

*आचार्य एवं पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, काटन कालेज तथा गुवाहाटी विश्वविद्यालय और पूर्व अतिथि आचार्य हिन्दी विभाग अरुणाचल विश्वविद्यालय, ईटानगर तथा त्रिपुरा विश्वविद्यालय, अगरतला। संपर्क : सुखदेव भवन, ए.टी. रोड, गुवाहाटी (असम)

के लिए जो दण्ड विधान है, वह सबके लिए एक समान है, न कि अलग-अलग। नीचे गलत वर्तनी के उदाहरण दे रहा हूँ

1. यह सामान्य नियम है कि जब पुलिंग से स्त्रीलिंग बनाया जाता है, तब मूल शब्द में ईकार लगाया जाता है। यथा नर + ई = नारी, लड़का + ई = लड़की, चला + ई = चली, पढ़ा + ई = पढ़ी। इसी वजन पर गया + ई = गयी, नया + ई = नयी जैसी वर्तनी होनी चाहिए थी, पर गई, नई, आदि वर्तनी लिखी जाती है। वर्तनी विशेषज्ञों का मानना है कि गयी, नयी में य् श्रुति नहीं होती। अतः उसे लिखना ठीक नहीं। यह कितना लचर तर्क है, क्योंकि वे ही लोग स्थायी, उत्तरदायी जैसे शब्दों में य् लेखन करते हैं।

इसके साथ ही प्रिंट मीडिया हिन्दी की वर्तनी को बरबाद करने में जी-तोड़ कोशिश कर रहा है। वह हुआ + ई, ए = हुयी/हुये जैसी वर्तनी बेहिचक लिख रहा है। गयी/गये में य की श्रुति नहीं हो रही है और हुयी/हुये में कैसे सुनायी पड़ने लगता है? इस अनाचारिता को लेकर हिन्दी सीखने वाले दंग हो जाते हैं और प्रश्न करते हैं कि चला + ई = चली में ल् का लोप नहीं होता, तो गया + ई = गयी में से य् का लोप क्यों कर दिया जाता है हुआ + ई = हुई होना सहज-सरल है, तो उसमें य् आगम कर हुयी क्यों लिखा जाता है? इसका समाधान मेरे जैसे अल्पज्ञ के पास नहीं है। पर जो लोग विशेषज्ञ हैं, वे तर्कहीन बात कहकर अपने अज्ञान का परिचय देते हैं। ऐसे लोग व्याकरण के नियम से परहेज करने की बात कर हिन्दी की वर्तनी में अराजकता फैलाना चाह रहे हैं।

2. हम भविष्यकाल का जब रूप बनाते हैं, तब मूल क्रिया में एगा प्रत्यय जोड़ देते हैं। यथा चल + एगा = चलेगा, बैठ + एगा = बैठेगा, पढ़ + एगा = पढ़ेगा, इत्यादि। किन्तु जब आकारान्त आदि स्वरान्त क्रियाओं से भविष्यकाल का रूप बनाते हैं, तब उसमें व्/य् का आगम कर देते हैं। इसका क्या कारण है, समझ में नहीं आता। यहाँ विद्वत् मण्डली की अराजकता स्पष्ट है। यथा, खा + एगा = खायेगा/खायगा/खावेगा, सो + एगा = सोयेगा, सोयगा, सोवेगा, इत्यादि। आखिर ऐसा क्यों? क्या हम सीधे खा + एगा = खाएगा; सो + एगा = सोएगा नहीं लिख सकते? क्या विद्वत् मण्डली को इन शब्दों को लिखने में दुरूहता का बोध होता है? सुकर को दुरूह और दुरूह को सुकर प्रमाणित करने का यह कैसा दुराग्रह है? आप गयी, नयी इत्यादि शब्दों से य का उच्चारण नहीं होने के कारण उसका लोप करते हैं। क्या खायेगा जैसे शब्दों में य का उच्चारण होता है। फिर ऐसा दोहरापन क्यों? यह हिन्दी की एकरूपता, सरलता पर घोर कुठाराघात है। इससे सावधान होने की आवश्यकता है। अराजकता न तो समाज के लिए ग्राह्य है और न तो भाषा/वर्तनी लेखन में। यह सर्वत्र त्याज्य है।

3. अनुस्वार-चन्द्रबिन्दु का अन्तर प्रिन्ट मीडिया ने मिटाकर केवल अनुस्वार का प्रचलन कर दिया है, जिसका प्रभाव हमारे छात्रों पर तो पड़ता ही है, साथ ही अनेकशः

बुद्धिजीवी विद्वानों पर भी। मैं नहीं समझ सकता प्रिन्ट मीडिया ने ऐसा क्यों किया? मुझे लगता है कि वह खाता है हिन्दी भाषा का और उसकी ही भाषा/वर्तनी को नष्ट करने वालों से दलाली लेकर ऐसा कर रहा है। दैनिक समाचार पत्र, मासिक, त्रैमासिक पत्रिकाएँ भ्रष्ट वर्तनी के प्रचार में सिद्धहस्त हो रही हैं। समय रहते उसके ऊपर अंकुश नहीं लगाया गया तो उसका दुष्प्रभाव श्रेष्ठ पत्रिकाओं/सन्दर्भ/बहुमूल्य ग्रन्थों पर भी पड़ेगा। बहुत कुछ पड़ भी गया है। मैं कभी भी गई/नई का प्रयोग नहीं करता। इनके स्थान पर मैं गयी/नयी ही लिखता हूँ, किन्तु पत्रिकाओं के सम्पादक महोदय मेरी वर्तनी को अशुद्ध मानकर बदल देते हैं। यानी गयी को गई कर देते हैं। इस तरह जब मैं चन्द्रबिन्दु का प्रयोग करता हूँ, तो सम्पादक महोदय उसे अनुस्वार में बदलकर अपनी बहुज्ञता का गुरुरत बोज़ मेरे ऊपर लादकर मेरी शुद्ध वर्तनी को अशुद्ध कर छाप देते हैं। क्या ऐसे लोग भारतीय जनता को हँसते हुए देखना नहीं चाहते? क्या ऐसे वरिष्ठ विद्वत् वृन्द हिन्दी के शब्द कोश से हँस क्रिया को समाप्त कर देना चाहते हैं? क्या वे सर्वसाधारण को हंस (पक्षी) बनाना चाह रहे हैं? क्या वे नहीं जानते कि अनुस्वार-चन्द्रबिन्दु के कारण हमारे शब्दों के अर्थ में अन्तर आ जाता है? वे इस तथ्य को जानकर भी अपनी हठधर्मिता छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते। ऐसा लगता है कि कोई उनका गला रेतने के लिए तैयार है, जो जबरन उनसे हिन्दी की वर्तनी को भ्रष्ट करा रहा है।

हाँ, एक बात है कि अनुस्वार-चन्द्रबिन्दु के प्रयोग में सन्देह उत्पन्न हो सकता है? यानी किस जगह अनुस्वार का प्रयोग किया जाए और किस जगह चन्द्रबिन्दु का। यहाँ स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि तत्सम शब्दों में चन्द्रबिन्दु का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं है। वहाँ सर्वत्र अनुस्वार का प्रयोग श्लाघ्य है, किन्तु तद्भव शब्दों में इस सन्देह का निवारण होना आवश्यक है। जिन तद्भव शब्दों में स्वरो की मात्रा ऊपर नहीं रहती है उनकी अनुनासिकता के लिए चन्द्रबिन्दु और जिन तद्भव शब्दों के ऊपर मात्रा दी जाती है, उनके साथ अनुस्वार का प्रयोग होना उचित होगा।¹ यथा, हँस, गाँव, पाँव, हूँ; किन्तु में/नहीं/हैं इत्यादि।

आम आदमी या छात्र में यह धारणा हो गई है कि अनुस्वार का प्रयोग आवश्यक नहीं है। ऐसे लोग में/नहीं/हैं जैसे शब्दों में अनुस्वार का प्रयोग नहीं करते हैं। जब छात्र लिखता है कि हमलोग खेल रहे है तब है को अत्यल्प अशुद्ध मानकर उस पर ध्यान नहीं देते और उस अशुद्धि के लिए हम छात्र को न तो कोई सुझाव देते हैं और न ही दण्डित करते हैं? ऐसा क्यों? उक्त अनुस्वार से ही एकवचन से बहुवचन का रूप बना है। यदि वही छात्र अंग्रेजी में इज के स्थान पर आर या आर के स्थान पर इज लिख दें तो उसे अशुद्ध माना जाएगा। ऐसा क्यों? दोनों अशुद्धियाँ समान हैं, फिर ऐसा भेदभाव क्यों? इसका एकमात्र कारण है हमारी मानसिकता में महत्त्व और महत्त्वहीन जैसी बात बैठी हुई है। स्वभाषा/राजभाषा हिन्दी को देश का हर नागरिक

महत्त्वहीन मानता है और अंग्रेजी को महत्त्वपूर्ण। यही कारण है कि हिन्दी की अशुद्धि पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता, जितना अंग्रेजी की अशुद्धि पर। आज भी मेकाले का भूत हमारे ऊपर सवार है। प्रो. (डॉ.) निर्मला एस. मौर्य ने ठीक ही लिखा है *विश्व में शायद ही कोई ऐसा राष्ट्र होगा, जहाँ एक विदेशी भाषा के द्वारा अपनी राष्ट्रीयता की पहचान होती हो। परन्तु भारत में ऐसा ही है।*^१ इस प्रकार मेकाले का घोषणा पत्र जिसे भारत की सरकार तथा हर बुद्धिजीवी व्यक्ति जानता है। *“मेकाले ने अंग्रेजी काल में भारत में शिक्षा पद्धति की नींव डालते हुए कहा था कि हम इस देश में ऐसे लोगों का निर्माण-विकास करना चाहते हैं, जिनका रंग तो भिन्न होगा, लेकिन उनकी भाषा, रुचि और आचार व्यवहार अंग्रेजों जैसा होगा।”*^२ यद्यपि भारत में इस नीति के अनुकूल हैं तो अल्पसंख्यक, पर बहुसंख्यक के ऊपर हावी बने हुए हैं, क्योंकि वे पद की अमोघ शक्ति से पूर्ण हैं। उनका विधायिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका पर एकाधिकार है। वे मेकाले की दुर्नीति से पूर्णतः परिचित होकर भी अपरिचित बने हुए हैं। यही कारण है कि भ्रष्ट शब्दों का व्यवहार बिना संकोच होता है। यथा हमारे विदेश मंत्री एस.एम. कृष्ण हैं, पर उन्हें सब एस.एम. कृष्णा बोलते-लिखते हैं। इसी तरह हमारे पूर्व प्रधानमंत्री का नाम है स्व. पी.वी. नरसिंह राव, उसे मीडिया तथा तथाकथित आभिजात्य शिक्षित विद्वानों ने नरसिम्हा, नरसिंघा और न जाने क्या-क्या बना दिया। इस प्रकार हमारे आदर्श पुरुष अवतारधारी, ईश्वर जानेमाने नामों को अंग्रेजों की तरह बिगाड़कर उसका न केवल मजाक उड़ाते हैं, बल्कि उन्हें हेयदृष्टि से देखते हैं। जिन नामों में उपेक्षा भाव, हेय भाव छिपा हुआ है, वही हमारे पण्डितों को आदर्श और श्रेष्ठ प्रतीत होता है। इनके प्रयोग में हमारी कौन-सी बुद्धि काम कर रही है, यह विचारणीय प्रश्न है।

4. दयार्द्र-दयार्द्र : दैनिक समाचार पत्रों ने दयार्द्र की जगह पर दयार्द्र लिखना आरम्भ किया है, जिसका अनुकरण भोले-भाले विद्यार्थियों ने कर लिया है। वस्तुतः दया + आर्द्र = दयार्द्र शब्द सर्वथा शुद्ध है, पर अशुद्ध शब्द का प्रचलन चलाया जा रहा है। इसी तरह न अतिदीर्घ, अनतिदीर्घ होगा, न कि नातिदीर्घ। यहाँ संधि न होकर नञ् समास होगा, जिस प्रकार न ईश्वर अनीश्वर होता है।

5. त्त लेखन की समस्या : दैनिक समाचार पत्रों के सम्पादक तथा पत्रकार लोगों ने दो तकार लिखने के प्रति बगावत कर दी है और जहाँ त् + त होना चाहिए वहाँ एक त् ही लिखने के पक्ष में हैं। यथा महत्व, सत्व, तत्व इत्यादि। इनका तर्क है कि प्राचीन जमाने में सूर्य, धर्म, वर्मा आदि दो वर्ण लिखे जाते थे, पर उसे आज जिस तरह से समाप्त कर एक ही वर्ण लिखा जाता है, उसी प्रकार महत्व, सत्व इत्यादि में एक त् का ही लेखन होना चाहिए। यह तर्क अपने आप में पूर्ण निराधार है, क्योंकि संस्कृत व्याकरण का नियम है कि रेफ के बाद यदि व्यंजन वर्ण आता है तो उसका

विकल्प से द्वित्व होता है। इस नियम से सूर्य/सूर्य, कर्म/कर्म, धर्म/धर्म, वर्मा/वर्मा दोनों शब्द साधु हैं। उनमें से कोई शब्द लिखा जाय, वह व्याकरण सम्मत होगा, किन्तु महत्व/महत्व, सत्व/सत्व, तत्व/तत्व, महत्ता/महत्ता जैसे शब्दों की ऐसी स्थिति नहीं है। इनमें से एक त् वाले शब्द पूर्णतः अशुद्ध हैं क्योंकि उनका प्रकृति-प्रत्यय नहीं दिखलाया जा सकता। महत्व, तत्व, सत्व का प्रकृति प्रत्यय क्या होगा? मह + त्व, त + त्व, स + त्व दिखलाया जाय, तो वह अत्यन्त हास्यास्पद होगा, क्योंकि मह, त, शब्द नहीं है। वस्तुतः महत् + त्व, सत् + त्व, तत् + त्व, महत् + ता से महत्व, सत्व, तत्व, महत्ता ये ही शब्द निष्पन्न होंगे, जो सर्वथा शुद्ध हैं। इन्हें लिखा जाना भाषा-प्रयोग, वाक्य-संरचना की दृष्टि से श्रेयस्कर है। किन्तु पत्रकार हिन्दी की वर्तनी को बरबाद करने की हठधर्मिता को नहीं त्याग रहे हैं। इसलिए उक्त अशुद्ध वर्तनियाँ प्रचलित हो रही हैं। यदि हिन्दी को सरल और प्रकृति-प्रत्यय सम्मत बनाना है तो दो त वाली वर्तनी स्वीकार करनी होगी, अन्यथा हिन्दीतर लोगों के लिए वह दुरूह हो जाएगी।

सच तो यह है कि आज हिन्दी न तो किसी राज्य या राष्ट्र की भाषा है, बल्कि वह विश्वभाषा की ओर तेजी से अग्रसर होती जा रही है। भले ही भारत में दो-तीन प्रतिशत लोग हिन्दी को हेय दृष्टि से देखें और उसके प्रति अपने प्रदूषित भाव को प्रचलित करते रहें, किन्तु आने वाला समय भारतीय भाषाओं का होगा और उसमें हिन्दी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करेगी। इससे हिन्दी का वर्चस्व स्थापित होगा। इसलिए हमें उसे सर्वांग रूप से विकसित करना होगा, जिसमें वर्तनी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वर्तनी में एकरूपता रहना भाषा प्रयोग की दृष्टि से तथा वाक्य संरचना की दृष्टि से अति आवश्यक है, जिससे भाषा की शिक्षा ग्रहण करने वालों को किसी प्रकार की कठिनाई का बोध न करना पड़े। इसी दृष्टि संपन्नता से हिन्दीतर लोग हिन्दी सहज भाव से तथा अति चाव से सीख सकते हैं। उनकी अभिरुचि का ध्यान हमें सदा रखना होगा।

6. शशि/ शशी इन दोनों शब्दों में से शशी शब्द शुद्ध है, क्योंकि नियम है कि *नकारान्त शब्दों के नकार का लोप होता है और उसके पूर्व स्वर का दीर्घ होता है। यथा, राजन् से राजा, गुणिन् से गुणी, धनिन् से धनी, मंत्रिन से मंत्री, स्वामिन् से स्वामी, अर्थिन् से अर्थी।* इन शब्दों के वजन पर शशिन् से शशी होगा न कि शशि। अतः शशी शब्द का ही प्रचलन होना चाहिए था। अनुमान किया जाएगा कि प्रारम्भिक अवस्था में हिन्दी लिखने वालों के समक्ष शशिकला, शशिप्रभा, जैसे शब्द थे, जिनमें सामासिकता के कारण शशी का ईकार इकार में बदल गया। प्रयोगकर्ताओं ने शशिकला से केवल शशि शब्द को ग्रहण कर लिया और उसके मूल शुद्ध रूप पर विचार नहीं किया। इस प्रकार शशी के स्थान पर शशि शब्द का प्रयोग अनजाने ही प्रचलित हो गया, जो आज तक चला आ रहा है और लोगों के तथा विद्वत् जनों के

मन में शशि ही शुद्ध शब्द है, शशी नहीं, ऐसा घर कर गया है। इस प्रकार प्रयोग के कारण शुद्ध शशी शब्द अशुद्ध बन गया है और अशुद्ध शब्द शशि शुद्ध बन गया, पर शुद्ध शुद्ध होता है और अशुद्ध अशुद्ध।

7. हल्/हलन्त : इन दोनों शब्दों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि आज लोग हल् शब्द का प्रयोग करना भूल गए हैं और हल् के स्थान पर हलन्त शब्द का प्रयोग करते हैं। वस्तुतः अनेक लोग हल् का अर्थ से भी अनभिज्ञ हैं। हल् का अर्थ है स्वररहित व्यंजन वर्ण। स्वररहित व्यंजन वर्णों का सूचक चिह्न हल् है। हलन्त में बहुव्रीहि समास है। विग्रह होगा हल् है अन्त में जिसके वह (शब्द) है हलन्त। इस तरह जिस शब्द के अन्त में स्वरविहीन व्यंजन वर्ण रहता है, वह शब्द हलन्त कहा जाएगा। यथा, श्रीमान्, महान्, जगत्, राजन्, महत्, सत्, तत् इत्यादि। इन शब्दों के अन्त में नीचे जो चिह्न दिया गया है, वह हल् है और वह अन्त में है अतः उक्त सब शब्द हलन्त कहे जाएंगे। इसी तरह चिह्न, क्रान्त आदि शब्दों में शब्द के मध्य में स्वरविहीन व्यंजन वर्ण आए हैं। उन्हें हल् कहा जाएगा, न कि हलन्त। उन्हें हलन्त कहना असंगत, अत्युक्तिकर होगा।

8. वाक्य संरचना : हम वाक्य में अनावश्यक शब्द का प्रयोग करते हैं। डॉ. नगेन्द्र की किताब का नाम है *साकेत : एक अध्ययन*। यहाँ एक संख्यावाचक विशेषण के रूप में प्रयुक्त है, जिसकी अनुपयोगिता स्वतःसिद्ध है, क्योंकि उक्त शीर्षक में प्रयुक्त अध्ययन अनेक नहीं है, बल्कि एक ही है। यदि एक का कथन नहीं होता, तो भी अध्ययन बहुवचन का बोध नहीं कराता। अतः उक्त शीर्षक में प्रयुक्त एक शब्द स्वतः अनावश्यक सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार लिखा जाता है *राम एक अच्छा लड़का है*। प्रस्तुत वाक्य का एक शब्द निष्प्रयोजन है, क्योंकि उक्त वाक्य में राम एक ही है, जो चरितार्थ करने वाले शब्द हैं *अच्छा* और है। *लड़का* स्वतः एक वचन में है, इसके साथ ही उसका विशेषण *अच्छा* और उसकी क्रिया है एकवचन रूप में हैं, फिर एक संख्या वाचक विशेषण का प्रयोग किसलिए? वस्तुतः Ram is a good boy का हमने अनुवाद किया *राम एक अच्छा लड़का है*। अंग्रेजी के वाक्य में प्रयुक्त a संख्या वाचक विशेषण नहीं है, बल्कि वह उस भाषा की वाक्य संरचना की अनिवार्यता है, क्योंकि अंग्रेजी व्याकरण के अनुसार व्यंजन वर्ण से प्रारम्भ होने वाले शब्द के पूर्व a और स्वर वर्ण से शुरू होने वाले शब्द के पूर्व an आर्टिकल अनिवार्य रूप से आता है। इसी नियम के अनुसार अंग्रेजी के वाक्य में good के पूर्व a आर्टिकल आया है, जो संख्याबोधक नहीं है, किन्तु हमने उसे संख्यावाचक मानकर a का अनुवाद एक कर दिया, जो सर्वथा असंगत और अनावश्यक है। इसका शुद्ध अनुवाद होगा *राम अच्छा लड़का है*। यह हिन्दी की वाक्य-संरचना तथा व्याकरण की दृष्टि से सही है।

9. महत्ता/महानता इन दोनों शब्दों में महत्ता शुद्ध है, महानता अशुद्ध। महान् शब्द नहीं है, बल्कि यह महत् का निष्पन्न शब्द है, अतः महान् से ता प्रत्यय नहीं आ सकता। यदि थोड़ी देर के लिए ता प्रत्यय के लगने की संभावना को स्वीकार भी कर लें, तो *महान्ता* सिद्ध शब्द होगा, न कि महानता। वस्तुतः महत् शब्द से *ता* प्रत्यय आने पर महत्ता शब्द निष्पन्न होता है। जिस प्रकार विद्वानता शब्द नहीं होता, उसी प्रकार महानता शब्द भी नहीं होना चाहिए, पर प्रयोग की अवस्था को देखकर इसे स्वीकार कर लिया गया है।

10. तत्सम शब्दों के लेखन की वर्तनी पर विचार कर लेना अनुचित नहीं होगा। हमें तत्सम शब्दों की वर्तनी को अपरिवर्तित रखना चाहिए अन्यथा सन्धि प्रकरण में हमें कठिनाई का बोध करना पड़ेगा। यथा जगत् शब्द तकारान्त है। यदि इसे स्वरान्त लिखते हैं, तो हम *जगदीश*, *जगन्नाथ* जैसे शब्दों को निष्पन्न नहीं कर पाएँगे। *जगत् + ईश = जगदीश*, *जगत् + नाथ = जगन्नाथ* यदि हम जगत स्वरान्त लिखते हैं, तो *जगत + ईश = जगदेश* शब्द निष्पन्न होगा, न कि जगदीश। दूसरी बात यह है कि जगत + नाथ में कोई सन्धि नहीं हो सकती। ऐसी परिस्थिति में *जगन्नाथ* शब्द निष्पन्न नहीं हो सकता। इसी तरह अन्य व्यंजन सन्धियों से निष्पन्न शब्दों को देखा जाएगा। इसके अतिरिक्त जब हम विद्यार्थी को स्वरान्त जगत लिखने के लिए प्रोत्साहित करते हैं, तब सन्धि के समय वह हलन्त जगत् कैसे लिखेगा? यह शब्द उसके न तो मस्तिष्क में और न अभ्यास में रहता है। इसलिए यह व्यंजनान्त जगत् आदि शब्दों को देखकर भौंचक हो जाता है। अतः तत्सम शब्दों का लेखन उसके मूल रूप में किया जाय तो किसी प्रकार का ननु नच नहीं रह जाएगा।

11. *तद्रूप-विद्रूप* शब्दों को देखने पर ऐसा लगता है कि *तद्रूप* के सादृश्य पर *विद्रूप* लोगों ने बना लिया, पर *विद्रूप* पूर्णतः अशुद्ध शब्द है क्योंकि विद् धातु है, उपसर्ग नहीं। धातु से *विद्रूप* नहीं होगा और यदि हठधर्मिता के कारण उसे बना लिया जाए, तो उसका अर्थ होगाज्ञान रूप न कि *खराब रूप*। खराब रूप के अर्थ में *विरूप* होगा न कि *विद्रूप*। मैंने अपने लेख में विरूप शब्द का प्रयोग किया था अवश्य, किन्तु सम्पादक महोदय की बहुज्ञता से उसे विद्रूप मुद्रित कर दिया गया और मेरे ऊपर उन्होंने उपकार का बोझ लाद दिया। ऐसे विद्वान् सम्पादक को मैंने एक पत्र लिखकर स्थिति स्पष्ट करते हुए उन्हें साधुवाद दे दिया। इस प्रकार अपना कर्तव्य पूरा कर लिया।

12. *विश्व के प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने पुनर् + रचना = पुनारचना, निर् + रोग = नीरोग, निर् + रस = नीरस* इत्यादि कुछ शब्दों की निष्पत्ति के लिए नियम बनाया कि *रेफ के बाद रकार रहने पर रेफ का लोप हो जाता है और उसके पूर्व स्वर का दीर्घ होता है*। यथा, *नीरोग, नीरस* इत्यादि। इस नियम के आधार पर उक्त दो

शब्दों को हिन्दी के विद्वानों ने तो स्वीकार किया, पर *पुनर् + रचना = पुनारचना* और *अन्तर् + राष्ट्र = अन्ताराष्ट्र* जैसी वर्तनी की जगह पर *पुनर्रचना* और *अन्तर्राष्ट्र* जैसे शब्दों को ग्रहण किया, जो भारतीय संस्कृति के पूर्णतः विपरीत है। यह सर्वस्वीकृत तथ्य है कि शब्द ब्रह्म है और वह अपने देश की संस्कृति का बोधक भी है। यदि किसी देश की संस्कृति नष्ट हो जाए और उस देश का साहित्य बचा रहे, तो साहित्य की शब्द-सम्पदा से संस्कृति पुनः प्रतिष्ठित हो जाएगी। यदि कभी कोई भारतीय संस्कृति का विश्लेषण शब्द-सम्पदा के आधार पर करेगा, तो पुनर्रचना, अन्तर्राष्ट्र जैसे शब्दों के आधार पर यह निष्कर्ष स्थापित करेगा कि भारत में स्वजाति के सिर पर बैठने की संस्कृति रही है, क्योंकि उक्त दोनों शब्दों में रेफ अपने स्वजाति वर्ण रकार के मस्तक पर बैठा हुआ है। इसी दोष से बचने के लिए पाणिनी ने उक्त नियम बनाया था। वस्तुतः *अर्धमात्रा लाघवेन वैयाकरणाः पुत्रोत्सवः मन्यन्ते* के सिद्धान्त को मानने वाला शिरस्थ वैयाकरण ने इस दोष से बचने के लिए ही उक्त दो सूत्रों का निर्माण किया। वे हैं *रोरि* और *द्र लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः*। सच तो यह है कि इन दोनों शब्दों को छोड़कर दूसरा कोई भी ऐसा शब्द नहीं है।

आचार्य पं. किशोरीदास वाजपेयी ने अपने शब्दानुशासन की विसर्ग संधि में लिखा है कि *रेफ से परे रकार रहने पर रेफ का लोप होता है और उसके पूर्व अ, इ, उ का दीर्घ होता है*। *नियम हिन्दी ने स्वीकार नहीं किया है।* यदि पण्डित जी का उक्त नियम ठीक है, तो *नीरस, नीरोग* जैसे शब्दों में कौन-सी सन्धि है? नियम ऐसा नहीं होना चाहिए कि उसको एक जगह लागू किया जा सके और दूसरी जगह नहीं। अतः पण्डित वाजपेयी का उक्त नियम एकदेशीय होने के कारण मान्य नहीं होना चाहिए।

13 मुझे यह परिज्ञान नहीं होता कि शुद्ध वर्तनी लिखने से लोग क्यों कतराते हैं और भ्रष्ट वर्तनी लिखकर क्यों गर्व करते हैं। यही हालत हमारी उपाधियों की है। हम जो उपाधि है, वह न कहकर अंग्रेजों का अनुकरण कर उपाधियों/शब्दों को बिगाड़कर बोलते हैं और अपने अत्याधुनिक आभिजात्य होने का गर्व करते हैं। यथा *शुक्त > शुक्ला, मिश्र > मिश्रा, > गुप्त > गुप्ता* इत्यादि। इसी तरह कुछ नामों का उच्चारण करते हैं। यथा *अशोक > अशोका, ब्रह्मपुत्र > ब्रह्मपुत्रा, विद्यालय > विद्यालया* इत्यादि। शब्द के अन्त में ए आता है, जिसके कारण इस तरह का उच्चारण करने का तर्क दिया जाता है। ऐसे लोग न तो भरत, कमल लिख सकेंगे और न उनका उच्चारण कर सकेंगे, क्योंकि ऐसे लोगों के लिए *ए आ* का बोधक है अ का नहीं। यही कारण है कि देवनागरी में लिखा जाता है *आन्ध्र, महाराष्ट्र, कर्नाटक, केरल* किन्तु हमारे विद्वान् हिन्दी समाचार वाचक उन्हें क्रमशः *आन्धा, महाराष्ट्रा, कर्नाटका, केरला* बोलते हैं। इस मनमौजीपन का क्या उपचार हो सकता है? अपनी भारतीय भाषाओं

को हेय दृष्टि से देखना और विदेशी भाषा की पूजा करना। इस नियति के कारण हम पीछे हैं, पिछड़े हुए हैं क्योंकि जिस प्रकार दूसरे की सन्तान को कोई दूसरी माँ प्रथम माता की तरह प्यार नहीं दे सकती, उसी प्रकार दूसरे की भाषा से कोई देश समुन्नत या विकसित नहीं हो सकता। चीन, जापान, जर्मनी, फ्रांस, रूस ऐसे विकसित देश हैं, जो न तो किसी दूसरे की भाषा के सहारे और न किसी का मुखापेक्षी होकर विकसित हुए हैं। ये स्वभाषा प्रेम, स्वदेश प्रेम, कड़ी लगन, कड़ी मेहनत और पूरी निष्ठा के कारण विकसित हुए हैं। यदि हमें विकसित होना है, तो उक्त देशों की विशेषताओं को अपने में आत्मसात करना होगा और निर्द्वन्द्व भाव से आगे बढ़ना होगा। यही एकमात्र प्रगति, विकसित होने का मूल मन्त्र है।

सन्दर्भ

1. आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा, हिन्दी समस्याएँ और समाधान, पृ. 105 से साम्य।
2. प्रो. निर्मला एस. मौर्य, हिन्दी में उच्च शिक्षा एवं अनुसंधान, संचार बुलेटिन, सं. विनय शर्मा, Vol. I, Issue 2, April-June-11, पृ. 1
3. प्रो. सत्येन्द्र श्रीवास्तव, ब्रिटेन में हिन्दी, संचार बुलेटिन त्रैमासिक पत्रिका, सं. डॉ. विनय शर्मा, वही, पृ. 9

हिन्दी वर्तनी की एकरूपता के व्याकरणिक आधार

रवीन्द्र कुमार पाठक*

हिन्दी-वर्तनी की अनेकरूपता आज भी किसी हद तक बनी हुई है यह दुःखद सच्चाई है। अनेकरूपता के पीछे भाषा के कालगत एवं स्थानगत विस्तार रूप कई कारण हैं, प्रयोक्ताओं का रुचि-स्वातन्त्र्य भी अपनी जगह है, साथ ही, मानकीकरण के लिए गए उपयोगी प्रयासों से उनकी अनभिज्ञता भी एक बड़ा कारण है। परन्तु, एक पक्ष यह भी है कि हिन्दी-वर्तनी के मानकीकरण के लिए हिन्दी भाषा के व्याकरणिक गठन का जो बोध आवश्यक है, उसका भी किन्हीं प्रसंगों में अभाव (या अपर्याप्तता) दिखलाई पड़ता है अथवा उसकी अनदेखी की जाती है।

व्याकरण जिस भाषा का अनुशासक है, वह मौखिक के साथ लिखित भी है। भाषा के लेखन के मानक या एक आदर्श रूप का विचार किसी हद तक व्याकरण-ज्ञान की अपेक्षा रखता है। 'किसी हद तक' इसलिए कहा गया कि ध्वनि/वर्ण-चिह्नों के संकेतों में अनेकरूपता दिखलाई पड़ रही है, उसे दूर करना व्याकरण का विषय नहीं है। वह मिल-बैठकर तय कर लेने की वस्तु है। लिपि-चिह्न भाषा की ध्वनियों के यादृच्छिक और रूढ़ संकेत ही तो हैं। इसलिए, किसी ध्वनि का एकाधिक तरह से अंकन हो रहा है तो उसे किसी एक रूप में स्थिर आम सहमति से किया जा सकता है। 'केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय' ने एक बड़ी पहल द्वारा ऐसा किया भी है, जिसे कुछ सुधारों के बाद सर्वस्वीकार्य बनाने की आवश्यकता है। किन्तु, एक बार जो संकेत स्थिर किया जाए, उसी का निर्वाह हर अवस्था में होयह सदाध्यातव्य है। संयुक्त व्यंजनों का लेखन करते समय, घटक बने व्यंजनों की स्पष्ट प्रतीति हो, लेखन में उनके पूर्वापर क्रम और संयोग में पूर्ण (स्वर युक्त) या अर्द्ध (स्वर हीन) स्थिति का खयाल रखा जाएयह आग्रह एक हद तक व्याकरणिक आग्रह है। परन्तु, असली व्याकरणिक सवाल वहाँ खड़ा होता है, जहाँ शब्दों (और उनके रूपान्तरों) के लेखन में अनेकरूपता

* डॉ. रवीन्द्र कुमार पाठक, सहायक प्राध्यापक, जी.एल.ए. कॉलेज, मेदिनीनगर, झारखण्ड; पत्राचार पता : ग्राम-पाठक विगहा, पोस्ट-जम्होर, जिला-औरंगाबाद (बिहार), पिन 824121, मो. 09801091682

आने लगे। तब, वह व्याकरण का ही विवेच्य बन जाता है। उदाहरणस्वरूप, 'जाएगा-जायेगा-जायगा-जावेगा' या 'लिए/लिये' आदि विकल्पों में ग्राह्य रूप का निश्चय व्याकरण के द्वारा ही हो सकता है। किसी शब्द की व्युत्पत्ति या व्याकरणिक संघटना की जानकारी के बिना उसकी वर्तनी असंदिग्ध नहीं हो सकती। जैसे 'कृपा-क्रिया', 'शृगाल-श्रीगणेश' आदि युग्मों में प्रथम अक्षर में वर्तनी का भेद इनके शाब्दिक गठन के भेद से हुआ है। इस आलेख में हिन्दी-वर्तनी की एकरूपता में सहायक होने वाले कुछ इसी प्रकार के व्याकरणिक आधारों पर कुछ बातें की जा रही हैं।

1. एक शिरोरेखा में जोड़कर या अलग अथवा योजक-चिह्न के साथ लिखने की समस्या

यह समस्या 'समास', 'सन्धि' एवं परसर्गों के लेखन से सम्बन्धित है। संस्कृत में समस्त पद को एक शिरोरेखा में ही लिखने की परम्परा रही है, परन्तु हिन्दी में वाचन और स्पष्टता के लिहाज से ऐसा बन्धन नहीं है। यहाँ सिद्धान्ततः अन्वय की दृष्टि से एकपदता मानते हुए भी, अक्सर घटक पदों की स्पष्टता या अर्थ-भ्रान्ति से उन्हें बचाने के लिए उनका विश्लेषण प्रयोग किया जाता है तथा ऐसे घटक पदों के बीच योजक चिह्न (हाइफन) डाल दिया जाता है। इस चिह्न को 'समास-चिह्न' भी कहते हैं। जैसे 'राज्य-सूची', 'सीता-गीता' आदि। इसे वियोजक चिह्न भी कहा जा सकता है। स्पष्ट है कि इस प्रसंग में यह जितना योजक उतना ही वियोजक भी हैसमस्त/एकपदीभूत इकाई के घटकों को अलग-अलग प्रतीत कराने वाला। समस्त पद बनने की प्रक्रिया में जहाँ सन्धि हुई हो (अथवा, इससे अलग किसी प्रसंग में सन्धि हुई हो) तो एक शिरोरेखा में लिखना अनिवार्य होता है। जैसे विद्यालय (विद्या + आलय), खरीददार (खरीद+दार), तभी (तब+ही) आदि। इसी तरह, द्विगु, बहुब्रीहि तथा अव्ययीभाव के समस्त पद प्रायः एक ही शिरोरेखा में लिखे जाते हैं। जैसे त्रिभुवन, चौराहा, जलज, दशमुख, प्रतिदिन, हाथोंहाथ, रातोंरात आदि। 'केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय' की पुस्तिका ('देवनागरी लिपि तथा हिन्दी वर्तनी का मानकीकरण', संस्करण 2006) में इस विषय में उपयोगी सुझाव दिए गए हैं। उसके अनुसार, द्वन्द्व समास में पदों के बीच योजक चिह्न अनिवार्य रूप से रखे जाने चाहिए। किन्तु, तत्पुरुष समास में केवल वहीं योजक चिह्न का प्रयोग हो, जहाँ उसके बिना अर्थ-भ्रम होने लगे। जैसे भू-तत्त्व (पृथ्वी-तत्त्व) भूतत्व (भूत होने का भाव), अ-नति (नम्रता का अभाव)अनति (थोड़ा) आदि। यहाँ इतना जोड़ देना ठीक रहेगा कि अर्थ का सन्देह जिस किसी समस्त पद में हो, वहाँ स्पष्टता के लिए यथावश्यक योजक चिह्न का प्रयोग होना चाहिए। उक्त पुस्तिका में (पृष्ठ 9) ही इस प्रसंग में जो बाकी दो उदाहरण दिए हैं, वे बहुब्रीहि समास के हैं, न

कि तत्पुरुष समास केअ-नख (बिना नख का)-अनख (क्रोध), अ-परस (जिसे किसी ने न छुआ हो) अपरस (एक चर्मरोग)। उक्त पुस्तिका में यह भी सुझाव दिया गया है कि “कठिन सन्धियों से बचने के लिए भी हाइफन का प्रयोग किया जा सकता है। जैसेद्वि-अक्षर (द्व्यक्षर), द्वि-अर्थक (द्व्यर्थक) आदि।” यह सुझाव हिन्दी भाषा में सन्धि की स्थिति/भूमिका से सम्बन्धित है। संस्कृत की अपेक्षा हिन्दी वियोगात्मक वर्ग की भाषा है। इसी से वह संस्कृत की तरह ‘सन्धि’ की प्रचंड प्रेमी नहीं। दो पदों के बीच वर्ण सामीप्य की सन्धि जैसी स्थिति बनने पर, कई बार वह ठहराव का सहारा लेकर उच्चारण कर लेती है, परन्तु ‘सन्धि’ करने से स्वयं को बचाती है। समास रहने पर यदि सन्धि की स्थिति बनी रही हो तो जहाँ संस्कृत में सन्धि लगभग अनिवार्य होती है, वहीं हिन्दी ने ऐसी अनिवार्यता नहीं रखी है। हिन्दी पद-पद को स्पष्ट प्रतीयमान देखने की अधिक पक्षधर है। वैसे उचित यही है कि सन्धि करने से मूल शब्द (पद) ज्यादा विकृत होते दिखें तो थोड़ा ठहर कर उच्चारण कर लेना उचित है, न कि सन्धि करना। जैसे‘स्त्री +उचित’ का संयोग रहने पर संस्कृत अनिवार्य रूप से ‘स्त्र्युचित’ कर लेगी। परन्तु, हिन्दी को यह रास्ता पसन्द नहीं। या तो वह सन्धि करेगी ही नहीं, ‘स्त्री-उचित’ जैसा प्रयोग करेगी अथवा सन्धि करेगी भी तो अपनी प्रवृत्ति (पद-विकृति न्यूनतम रखना ताकि पद-स्पष्टता बनी रहे) के तहत ‘स्त्रियुचित’ जैसा प्रयोग करेगी। हाँ, जैसा वाचन में होगा, तदनुसार लेखन होगा। ऊपर कहा गया है कि सन्धि होगी, तो एक शिरोरेखा में लेखन होगा‘स्त्रियो चित’ नहीं, ‘स्त्रियुचित’यही ठीक है। सन्धि घटित होने से यदि बचाया गया हो तो घटकों को एक शिरोरेखा में लिखने की अनिवार्यता नहीं है। ‘द्विअक्षर’, ‘द्विअर्थक’ भी लिख सकते हैं, इन्हें हाइफन से विलग करके भी लिख सकते हैं‘द्विअक्षर’, ‘द्विअर्थक’। ‘निदेशालय’ ने दूसरी स्थिति को अनिवार्य बनाने का सुझाव दिया है (जो उचित ही है), जिसके लिए उसने ‘कठिन सन्धियों से बचने के लिए’ जैसा शब्द-प्रयोग किया है। समास के घटक पदों की विभेदकता की प्रतीति योजक-चिह्न से रहित विश्लेष्य प्रयोग द्वारा भी सम्भव है, परन्तु उससे समास की एकत्व वाली धारणा बाधित हो जाएगी।

‘सा’ ‘जैसा’ आदि : ‘निदेशालय’ ने ‘सा’, ‘जैसा’ आदि से पूर्व हाइफन रखे जाने का सुझाव दिया है (पृष्ठ 9)तुम-सा, राम-जैसा, चाकू-से तीखे। परन्तु, प्रयोग यदि ‘राम, श्याम और मोहन जैसा’ हो, तो? स्पष्ट है कि यदि ‘जैसा’ के पूर्व हाइफन लगा दिए जाए, तो वह केवल ‘मोहन’ से सम्बन्धित होगा। तब, यह विधान करना होगा कि एकाधिक पदों के बाद उनसे सम्बन्धित होकर ‘सा’/‘जैसा’ आता है, तो वह बिना योजक-चिह्न के आएगा; अन्यथा योजक चिह्न अनिवार्य होगा। इस प्रकार की द्विधा व्यवस्था से बचने अथवा एकरूपता बनाए रखने के लिए क्यों न ‘जैसा’/‘सा’ का प्रयोग आधारभूत पद से योजक-चिह्न-रहित, एकदम विलग करने का विधान बना दिया जाए?

‘वाला’ का प्रयोग : इसी तरह, ‘वाला’ के प्रयोग को समझना चाहिए। उसे एकरूपता की दृष्टि से हर जगह, हर स्थिति में अलग ही लिखना चाहिए। जैसेकरने वाला, दूध वाला आदि। परन्तु, इस सम्बन्ध में ‘निदेशालय’ ने जो सुझाव दिए हैं, वे तर्कसंगत नहीं हैं“क्रिया रूपों में ‘करने वाला’, ‘आने वाला’, ‘बोलने वाला’ आदि को अलग लिखा जाए। जैसे : में घर जाने वाला हूँ, जाने वाले लोग।”

“योजक प्रत्यय के रूप में ‘घरवाला’, ‘टोपीवाला’ (टोपी बेचने वाला), दिलवाला, दूधवाला आदि एक शब्द के समान ही लिखे जाएँगे।”

“वाला जब प्रत्यय के रूप में आएगा तब तो मिलाकर लिखा जाएगा, अन्यथा अलग से।” (पृ. 14-15)

सवाल है, क्या सिर्फ ‘घर वाला’, ‘टोपी वाला’ जैसे उदाहरणों में ‘वाला’ प्रत्यय-रूप है? पहले नियम में आए ‘जाने वाले लोग’ में भी तो वह प्रत्यय-रूप है। ‘जाने वाले लोग’ और ‘टोपी वाले लोग’इन दोनों के व्याकरणिक गठन में क्या कोई अन्तर है? ‘जाने वाले’ भी विशेषण है, ‘टोपी वाले’ भी। यही क्यों, ‘में घर जाने वाला हूँ’ में ‘वाला’ क्रियापद का (भविष्यगामी क्रिया) घटक बनकर आया है, सो प्रकार्य की दृष्टि से कुछ अलग है; किन्तु गठन की दृष्टि से ‘जाने वाला’ तो विशेषणात्मक ही है। फिर, एक जगह ‘वाला’ को अलग और दूसरी जगह संलग्न कर लिखने का नियम कैसा? दूसरी बात, (एक जगह) सटाकर लिखने के विधान से भी उपर्युक्त (‘जैसा’ वाली) उलझन यहाँ भी आती है। यदि प्रयोग हो‘घर और खेत वाला’, तो स्पष्ट है कि इसे ‘घर और खेतवाला’ नहीं लिख सकते। ऐसी स्थिति में एक नियम बना देना पर्याप्त होगा कि ‘वाला’ किसी स्थिति में आए, आधारभूत शब्द से विलग लिखा जाएगा।

अव्यय शब्द : अव्यय शब्दों के बारे में ‘निदेशालय’ ने स्पष्ट विधान किया है कि समस्त पदों के घटक बनने पर वे जोड़कर लिखे जाएँगे, अन्यथा अलग। जैसे‘तक’यहाँ तक। (समास में प्रतिदिन, मानवमात्र आदि)। यह विधान उचित है। ऐसे अव्ययों में ‘तक’, ‘साथ’, ‘आह’, ‘ओह’, ‘ऐ’, ‘ही’, ‘तो’, ‘सो’, ‘भी’, ‘न’, ‘जब’, ‘तब’, ‘कब’, ‘यहाँ’, ‘वहाँ’, ‘कहाँ’, ‘सदा’, ‘क्या’, ‘तक’, ‘भर’, ‘मात्र’, ‘कि’, ‘किन्तु’, ‘मगर’, ‘लेकिन’, ‘चाहे’, ‘या’, ‘अथवा’, ‘तथा’, ‘यथा’, ‘और’ के साथ सम्मानार्थक ‘श्री’ और ‘जी’ का उल्लेख ‘निदेशालय’ की ‘पुस्तिका’ (2006) में है। (पृष्ठ 9) इसमें ‘क्या’ तो अव्यय नहीं है, सर्वनाम है। उसकी रूपावली प्राप्त हैकि, किन, किस ने, किन ने, किन को आदि। इस भूल का सुधार होना चाहिए। इसके साथ, पुस्तिका में यह भी उल्लेख है कि “कुछ अव्ययों के आगे कारक-चिह्न भी आते हैं। जैसेअब से, तब से, यहाँ से, वहाँ से, सदा से आदि।” (पृष्ठ 9) यह बात तो ठीक है, परन्तु यहाँ यह भी जोड़ देना ठीक रहेगा कि जहाँ भी ‘अव्यय शब्दों’ के साथ कारक-चिह्न (परसर्ग) जुड़ पाते हैं, वहाँ वे ‘अव्यय’ न रहकर नाम वर्गीय (संज्ञा-सर्वनाम-

विशेषण कोटि के) पद हो जाते हैं। तब, वे कारक बनने की योग्यता पा जाते हैं। कारण, 'अव्यय' का एक भेदक लक्षण हैकारक बनने या परसर्ग ग्रहण करने की क्षमता से हीन होना। अव्यय चूँकि शब्द-भेद की दृष्टि से एक स्वतन्त्र वर्ग में हैं, अतः उनका सदा पृथक् लेखन होना चाहिए।

परसर्ग का लेखन : हिन्दी की विश्लेषणात्मकता की चर्चा जिन तथ्यों के आधार पर होती है, उनमें से एक हैकारक-चिह्न (परसर्ग) एवं का/के/की आदि सम्बन्ध प्रत्ययों का विश्लिष्ट प्रयोग। अतः, जहाँ तक सम्भव हो, इनका विश्लिष्ट प्रयोग ही होना चाहिए चाहे शब्द 'संज्ञा' हो या 'सर्वनाम'। जैसेरजनी ने, मैं ने, डेविड का, तबस्सुम की, उसकी आदि। इस प्रसंग में, 'निदेशालय' ने जो नियम सुझाये हैं, वे एकरूपता की दृष्टि से वांछनीय नहीं हैं। उसके अनुसार, कारक चिह्न 'संज्ञा' शब्द से हटाकर, 'सर्वनाम' शब्द से सटाकर तथा एकाधिक-खण्डीय कारक चिह्न होने पर पहला खण्ड सर्वनाम से सटाकर और दूसरा हटाकर लिखा जाए। साथ ही, सर्वनाम और कारक-चिह्न के बीच 'ही', 'तक' आदि निपात के होने पर कारक-चिह्न को पृथक् लिखा जाए। जैसेउसके लिए, इसमें से, आप ही के लिए, मुझ तक को। (पृष्ठ 8) जब एक स्थिति में सर्वनाम शब्द से भी हटाकर ही लिखने की बात है तो क्यों न हर स्थिति में हटा कर ही लिखा जाए? 'उस के लिए', 'उस को' आदि ही क्यों न विहित हों? (इस नियम का केवल एक जगह अपवाद रखा जाएसंश्लिष्ट परसर्ग 'ए' और संश्लिष्ट सम्बन्ध प्रत्यय'रा/रे/री' के प्रसंग में। 'को' के विकल्प में सभी सर्वनामों के साथ 'ए' परसर्ग आता है (उसे, तुम्हें, हमें, मुझे आदि)। संश्लिष्ट 'रा/रे-री' सम्बन्ध-प्रत्यय मध्यम एवं उत्तम पुरुष के चारों सर्वनामों (तू, तुम, मैं, हम) के साथ लगते हैं, चूँकि इनमें 'का/के/की' का संयोग नहीं होता। (तेरा, तुम्हारे, मेरी, हमारा आदि) इस प्रकार, परसर्ग/कारक चिह्न के (उक्त अपवाद के सिवा) विश्लिष्ट प्रयोग का नियम ही एकरूपता की दिशा में उचित कदम होगा। चाहे वे संज्ञा के साथ आएँ या सर्वनाम के साथ, एकल रूप में आएँ या एकाधिक खण्डीय रूप में या परसर्ग के ऊपर परसर्ग के रूप में (जैसे'कुएँ में से') अथवा अपने आधारभूत पद से 'ही', 'तक' आदि अव्ययों के बीच में आने के कारण नियुक्त हों। ('उस तक को' आदि)

इस सन्दर्भ में यह भी ध्यातव्य है कि 'के द्वारा', 'के लिए', 'के निमित्त' आदि न स्वतन्त्र परसर्ग हैं, न परसर्ग के ऊपर परसर्ग लगने के उदाहरण। (शेष) सम्बन्ध सूचक अव्ययों 'द्वारा', 'लिए' (या तदर्थ प्रयुक्त संज्ञा शब्द 'निमित्त') आदि के प्रयोग से बने रूप हैं ये। सम्बन्धसूचक 'के'/'से' परसर्ग का बिना सहारा लिए प्रायः नहीं आते। (हाँ, 'द्वारा' और 'लिए' यदा-कदा 'के'/'से' के बिना भी आते हैं : इसीलिए, राजेश द्वारा आदि; पर देखा जाए तो समास-प्रक्रिया से एकपदीभूत हैं, अन्यथा 'इसके लिए', 'इसी के लिए', 'राजेश के द्वारा' आदि होते हैं।)

'लिए' व 'द्वारा' का लेखन अलग ही किया जाना ठीक है, यदि ये समस्त पद के अंगीभूत न हों तो। जैसे'तेरे लिए', 'तेरे और मेरे लिए', 'मेरे, उसके और देश के लिए'; 'माइकल के द्वारा'; 'संगिनी, रागिणी और सरिता के द्वारा' आदि। 'द्वारा' यदि 'के' के बिना (या 'रे' के बिना) आए, यानी समस्त पद का घटक बनकर आए, तो भी एकरूपता के खयाल से उसे विलग लिखना ही ठीक होगा। जैसे'राजेश द्वारा'। 'इसलिए', 'इसीलिए' का एकपद होना अधिक स्पष्ट है, अतः इन्हें उसी तरह एक शिरोरेखा में लिखा जा सकता है, जिस तरह समस्त पद 'मानव मात्र' के 'मात्र' को। अन्यथा, 'चार रुपये मात्र', 'मात्र दो व्यक्ति' आदि जैसे विश्लिष्ट हैं, उसी तरह 'उस के लिए', 'राजा के लिए' आदि।

संयुक्त क्रियापद और पूर्वकालिक कर/के : इस सम्बन्ध में 'निदेशालय' की 'पुस्तिका' में सुझाव है'संयुक्त क्रिया पदों में अंगीभूत क्रियाएँ पृथक्-पृथक् लिखी जाएँ। जैसे : पढ़ा करता है, घूमता रहेगा, बढ़ते चले जा रहे हैं आदि।' (पृष्ठ 8) यह पूरी तरह से उचित सुझाव है। सिर्फ शब्द-प्रयोग 'अंगीभूत क्रियाएँ' ठीक नहीं। होना चाहिए'अंगीभूत क्रियांश/घटक'। कारण, 'पढ़ा', 'करता', 'है', आदि अपने आप में क्रियाएँ नहीं हैं। क्रिया तो साध्य-समापिका होती है। वह एक ही है 'पढ़ा करता है', जिसके ये घटक हैं ('पढ़ा', 'करता' कृदन्त घटक हैं, 'है' तिङन्त घटक), अतः क्रियांश हैं। इसी तरह 'पढ़ कर गयी' क्रिया में 'पढ़ कर' को 'पूर्वकालिक क्रिया' की जगह 'पूर्वकालिक क्रियांश' कहना उचित होगा। उक्त पुस्तिका में (पृष्ठ 14) 'कर' को 'पूर्वकालिक कृदन्त प्रत्यय' जैसा असमीचीन नाम दिया गया है। पहली बात, 'कृत्' प्रत्यय होता है, 'कृदन्त' प्रत्यय नहीं (क्योंकि कृदन्त=कृत् प्रत्यय से बना नाम/प्रातिपदिक)। दूसरी बात, 'कर' यहाँ प्रत्यय-सदृश भले दिखे, पर वह प्रत्यय नहीं है। 'कर' धातु में '0' कृत् प्रत्यय के योग से बना 'कृदन्त अव्यय' है यह, जो पूर्वकालिक क्रियार्थ का सूचक है। इसे तथा इसके संयोग से बने 'पढ़ कर' आदि को 'पूर्वकालिक क्रियार्थक कृदन्त' (अव्यय) कह सकते हैं। इसके योग से क्रियापद की रचना हुई है'पढ़ कर गयी।' 'कर' की तरह 'के' भी पूर्वकालिकता बोधक प्रत्यय-सदृश है। 'वह पढ़ के गया।' 'कर के' का प्रयोग भी होता है'पढ़ कर के'। खैर! यहाँ प्रसंग वर्तनी का है। 'निदेशालय' ने इसे क्रिया (कहना चाहिए था मूल पूर्वकालिक धातु से बने मूल पूर्वकालिक कृदन्त) से मिलाकर लिखने का सुझाव दिया है, जो एकरूपता की दृष्टि से स्वीकार्य नहीं है। कारण, 'खा-पीकर' (पुस्तिका, पृष्ठ 14) जैसे प्रयोग से 'कर' की 'खा' से संयुक्त अविवेचित रह जाती है। इसी तरह, 'सो और खाकर' में भी 'कर' का 'सो' से योग बाधित हो जाता है। समाधान हैहर स्थिति में पूर्वकालिकता-बोधक 'कर', 'के' या 'कर के' को मूल पूर्वकालिक कृदन्त से विश्लिष्ट रूप में लिखा जाए। (खा-पी कर, सो और खा कर)

2. 'यू' / 'वू' श्रुति की समस्या : यह समस्या क्रिया, विशेषण एवं संज्ञा शब्दों के प्रसंग में है। इस सम्बन्ध में, 'निदेशालय' ने जो व्यवस्था दी, वह व्याकरण-सम्मत नहीं है। उसकी पुस्तिका में कहा गया है कि 'यू' श्रुति जहाँ शब्द का ही मूल तत्त्व हो, वहाँ वह उसी रूप में लिखा जाएगा (स्थायी, अव्ययीभाव, दायित्व आदि), किन्तु जहाँ वह व्याकरणिक परिवर्तन भर हो या 'यू/वू' श्रुति का प्रयोग विकल्प से होता हो, वहाँ उसका प्रयोग न किया जाए। अर्थात्, 'किए', 'नई', 'हुआ' आदि रूप मान्य हैं, न कि 'किये', 'नयी', 'हुवा' आदि।

व्याकरणिक व्यवस्था यही है कि शब्दों के रूपान्तर में उसके मूल का अंश यथासम्भव सुरक्षित रखा जाए। 'नया+ई' से बनता है 'नयी', तो इसे 'नई' कैसे लिख दिया गया? 'क्रिया+ए'='किये', पर 'किए' कैसे? 'निदेशालय' की उक्त पुस्तिका की ही बात मानें ('जहाँ 'य' श्रुतिमूलक व्याकरणिक परिवर्तन न होकर शब्द का ही मूल तत्त्व हो'...) तो 'नयी' में 'यू' (या 'किये' में भी) शब्द का ही मूल तत्त्व है। 'नई', 'किए' आदि लिख देने से व्याकरणिक रूपान्तर अव्याख्येय हो जाएगा। उक्त पुस्तिका ने 'दिखाए गए', 'राम के लिए', 'पुस्तक लिए हुए' आदि रूपों को प्रामाणिक माना। यहाँ दो प्रकार के प्रयोगों को एक ही श्रेणी में डाल देने की भूल भी की गई है। 'दिखाए गए' को 'दिखाये गये' लिखना उचित है; वह 'दिखाया गया' का बहुवचन-रूप है। शेष दो उदाहरणों में आए 'लिए' व 'हुए' की स्थिति अव्ययात्मक है। एक क्रिया भी है 'लिये', जो 'लिया' का बहुवचन रूप है; परन्तु 'राम के लिए' में 'लिए' सम्बन्धसूचक अव्यय है। वह हर स्थिति में 'लिए' ही रहता है। तीसरे उदाहरण में 'लिए हुए' भी अव्ययात्मक है। सुरेश पुस्तक लिए हुए गया। सावित्री फल लिए हुए गई। सर्वत्र एकरूप है प्रयोग। परन्तु, मैंने एक ग्रन्थ लिया। तुमने कई ग्रन्थ लिये। भेद स्पष्ट है। 'वहाँ सिनेमा दिखाया गया।' 'वहाँ कई नाटक दिखाये गये।' रूपान्तर स्पष्ट है। इस प्रकार, कहा जा सकता है कि धातु से बने समापिका क्रिया कृदन्त रूपों ('दिखाया', 'गया', 'दिखाये', 'लिये' आदि) और कृदन्त अव्ययों (लिए, लिए हुए आदि) का अन्तर बतलाने के लिए भी इनका अलग-अलग तरह से लेखन होना चाहिए।

क्रिया : 'यू'/'वू' श्रुति की समस्या क्रिया के विधि/संभाव्य भविष्यत्, सामान्य भविष्यत् और सामान्य भूत के रूपों में खड़ी होती है। परन्तु, व्याकरणिक पृष्ठभूमि के ज्ञान से इस समस्या का निवारण हो जाता है। उसी पर थोड़ा इत्मीनान से विचार करते हैं :

(1.) हिन्दी में धातु-विभक्तियाँ (तिङ्) केवल विधि/संभाव्य भविष्यत् के क्षेत्र में अवशिष्ट रही हैं :

ये चूँकि विभक्तियाँ हैं, अतः लिंग भेद नहीं मानतीं। इनसे बने धातु रूप हिन्दी की विधि (आज्ञा) एवं संभाव्य भविष्यत् में प्रयुक्त होते हैं। हिन्दी धातुओं से इनके योग से रूप-सिद्धि इस प्रकार होती है

	एकवचन	बहुवचन
अन्य पुरुष	ए	एँ/इये
मध्यम पुरुष	0/ए	ओ
उत्तम पुरुष	ऊँ	एँ

जा+ए = जाए (वह जाए।)

जा+एँ = जाएँ (वे/हम जाएँ।)

जा+0 = जा (तू जा।)

जा+ओ = जाओ (तुम जाओ।)

जा+ऊँ = जाऊँ (मैं जाऊँ।)

जा+इये = जाइये (आप जाइये।)

अन्य धातुओं से भी कुछ रूप इस तरह हैं :

पढ़+ए = पढ़े

आ+ए = आए

छू+ए = छुए

धो+ए = धोए

सो+ए = सोए

हो+ए = होए

'इये' विभक्ति केवल अन्य पुरुष आदरार्थक 'आप' के लिए 'एँ' के साथ विकल्प में आती है। ('आप जाएँ' की जगह 'आप जाइए' भी प्रयुक्त) यह 'इये' एक मत से अपभ्रंश के 'किज्जिय', 'करिज्जिय' आदि के 'इय' का विकास है। ('नागरी लिपि और हिन्दी वर्तनी' डॉ. अनन्त चौधरी) दूसरे मत से, संस्कृत में 'विधि/लोट्' लकार में आत्मनेपदी अन्य पुरुष प्रत्यय 'यताम्' से यह विकसा है (यताम् → यतु → यदु → यउ → यो। जैसेवत्यताम् → चत्यदु → चलियो → चलिए। इसी तरह, पठ्यताम् → पठिये) 'हिन्दी भाषानुशासन' /डॉ. रामदेव त्रिपाठी (पृ. 501-502)

'चाह' धातु से 'चाहें' के अर्थ में ही विकल्प से 'चाहिए' रूप बनता है। (आप जो चाहें/चाहिये, सो करिये।) एक दूसरा 'चाहिए' भी है, जो अव्यय-कृदन्त है। वह विधि (कर्तव्य) के अर्थ में किसी धातु के साथ सहायक क्रियांश बनकर प्रयुक्त होता है। जैसे 'राधा को पढ़ना चाहिए।' यहाँ 'चाहिये' नहीं होगा। दोनों का पार्थक्य रखने के लिए क्रिया पद (तिङन्त) को 'इये' से और कृदन्त अव्यय (सहायक क्रियांश) को 'इए' से सिद्ध किया जा रहा है।

'यू/वू' श्रुति का सवाल वहीं उठता है, जहाँ व्याकरणिक प्रक्रिया 'यण्' की होती है (हिन्दी में 'इ/उ' + कोई भिन्न स्वर = यू/वू)। 'चाहिए' में 'इ' के बाद भिन्न स्वर 'य' के आने पर 'यू' श्रुति स्वतः आ जाती है। परन्तु, 'चाहिये' क्रियापद (तिङन्त) से

पृथकता जतलाने के लिए इसे ऐसा ही लिखा गया। 'इये' के अलावा जो शेष विभक्तियाँ 'ए', 'ऊँ', 'ओ' आदि हैं उनसे भी 'यण' की प्रक्रिया बनने लगती है।
 + ओ= खाओ (खावो), छू + ए= छुए (छुवे) आदि। किन्तु, इन विभक्तियों का योग सभी धातुओं से होने के प्रसंग में एकरूपता बनी रहे, इसलिए किसी जगह कोई 'यू/वू' श्रुति नहीं लगानी चाहिए। ('इये' तो स्रोत का खयाल कर और अव्यय कृदन्त से विभेद दिखलाने हेतु लिखा गया है।) 'व' श्रुति के बारे में एक मत यह भी है कि हिन्दी में वह लुप्त हो चुकी है, जिससे 'भानुओं', 'साधुओं' आदि रूप ही लिखे जाते हैं, न कि 'भानुवों', 'साधुवों' आदि।

(ii) विधि/सम्भाव्य भविष्यत् के तिङन्त क्रियापदों में 'गा/गे/गी' प्रत्यय जोड़कर हिन्दी अपने सामान्य भविष्यत् के क्रियापद बनाती है पुलिङ्ग एकवचन में 'गा', पुलिङ्ग बहुवचन में 'गे' तथा स्त्रीलिङ्ग के दोनों वचनों में 'गी' जोड़कर। हाँ, 'इये' युक्त बहुवचन तिङन्त क्रियापद का 'सामान्य भविष्यत्' रूप 'गा' ही जोड़कर बनाती है। वही रूप स्त्रीलिङ्ग में भी चलता है। (जैसे जाइये + गा= जाइयेगा)। रूप-सिद्धि के उदाहरण :

आए + गा = आएगा, आएँ + गे = आएँगे, आए + गी = आएगी,
 आएँ + गी = आएंगी
 आओ + गे = आओगे, आओ + गी = आओगी, आऊँ + गा =
 आऊँगा, आऊँ + गी = आऊँगी।

(iii) सामान्य भूत का रूप बनाने के लिए धातु में, पुलिङ्ग एकवचन के लिए 'आ', पुं. बहुवचन में 'ए' तथा स्त्रीलिङ्ग के एकवचन के लिए 'ई' और उस के बहुवचन के लिए 'ई' प्रत्यय जुड़ता है। 'अ/उ/ऊ' कारान्त धातुओं को छोड़कर शेष सभी धातुओं में इस स्थिति में 'यू' श्रुति का आगमन हो जाता है।

पढ़ + आ = पढ़ा, पढ़ + ए = पढ़े, पढ़ + ई = पढ़ी, पढ़ + ई = पढ़ीं।

आ + आ = आया। सो + आ = सोया ('आआ' अनुच्चार्य होता, इसी से 'यू' श्रुति का आगमन हुआ। जब एक जगह ले लिया, तो एकरूपता के लिए 'आये', 'आयी', 'आई' सब में माना गया। 'ग + आ = गआ' भी अनुच्चार्य होता, इसी से 'गया' हो गया।)

हो + आ = हुआ + आ = हुआ।

हो + ई = हुआ + ई = हुई। ('हो' का भूतकालिक 'आ' प्रत्यय के योग में 'हु' आदेश होता है।)

विशेषण : उपर्युक्त सामान्य भूत रूप 'पढ़ा', 'पढ़े' आदि कृदन्त विशेषण ही हैं, अतः 'यू/वू' श्रुति का जो नियम उन पर लागू होता है, वही विशेषण पर भी लागू होगा। हिन्दी के तद्भव विशेषण 'आकारान्त' ही प्रायः हैंकाला, पीला आदि। इनका

बहुवचन 'ए' जोड़कर तथा स्त्रीलिङ्ग (दोनों वचनों में) 'ई' जोड़कर बनाया जाता है। जैसे नया → नये, नयी। सोया → सोये, सोयी। काला → काले, काली। आदि।

हिन्दी में विशेषण-रचनार्थ कुछ शब्दों के लिए विहित एक 'ई' प्रत्यय भी है। भाषा + ई = भाषाई। इसी तरह, बने अन्य शब्द हैं दुनियाई, हलवाई, हवाई, एशियाई, दंगाई, ईसाई, भाजपाई, सपाई आदि। (कुछ लोग 'दुनियावी' या 'भाषायी' भी लिख देते हैं, परन्तु एकरूपता के खयाल से एक ही प्रत्यय 'ई' माना जाए, तो बेहतर है।)

संज्ञा संज्ञा में भी 'यू/वू' श्रुति के सन्दर्भ में ये ही नियम होंगे, जो क्रिया व विशेषण में हैं।

(i) संस्कृत-प्राप्त (कथित तत्सम) शब्दों को छोड़कर, शेष 'आ' कारान्त पुलिङ्ग शब्दों का बहुवचन 'ए' जोड़कर तथा स्त्री./पुं. सभी शब्दों का स-परसर्ग रूप बहुवचन में 'ओ' जोड़कर बनता है। जैसे लड़का + ए = लड़के। लड़का + ओं + ने = लड़कों ने। ('मुनियों' आदि में 'इ' के बाद 'ओं' आने पर 'यू' श्रुति का आगमन हुआ।)

(ii) संस्कृत प्राप्त (कथित तत्सम) स्त्री इकारान्त शब्दों में 'आँ' प्रत्यय तथा आकारान्त सहित शेष सभी कथित तत्सम स्त्री शब्दों में 'एँ' जोड़कर बहुवचन बनाते हैं। जैसे

स्थिति + आँ = स्थितियाँ 'इ' के बाद 'आँ' आने पर 'यू' श्रुति स्वतः
 आ गई।

नदी + आँ = नदियाँ

विविधता + एँ = विविधताएँ

आशा + एँ = आशाएँ

आशा + ओं (+ ने) = आशाओं ने

'एँ' प्रत्यय और सभी स्त्री. शब्दों में भी लगता है बात + एँ = बातें। गाय + एँ = गायें।

3. अनुनासिकता, अनुस्वार तथा नासिक्य (पंचम) वर्ण की समस्या

परम्परागत भाषा-व्यवस्था में 'अनुस्वार' अलग वर्ण के रूप में मान्यता रखता है, परन्तु अनुनासिकता कोई स्वतन्त्र वर्ण नहीं, बल्कि स्वरों में आ कर लग जाने वाला (आगन्तुक) गुण धर्म है, जिसका संकेत (ँ) से होता है।

ध्वनि के स्तर पर 'अनुस्वार' नासिक्य (पंचम) वर्णों 'ङ्', 'ञ्', 'ण्', 'न्', 'म्' से अलग नहीं है, बहुत हुआ तो इन्हीं का संस्वन है अनुस्वार। फिर भी, इसकी वर्ण-रूप में कल्पना (लिखित) व्यवस्था के रक्षार्थ हुई है। भाषा-व्यवस्था में अन्तःस्थ (यू, रू, लू, वू) और ऊष्म (शू, षू, सू, हू) के संसर्ग में ही, उनसे पूर्व, इसकी सत्ता मानी गई है। (जैसे संयम, संवाद, संरक्षक, संशय, संसार, संलाप, संहार आदि)। 'सम्' +

सार' या 'सम् + वाद' जैसी स्थिति भाषा में बनती है, तो इनकी व्याख्या मुश्किल हो जाती है। कारण 'स्', 'व्' आदि का कोई वर्गीय पंचम वर्ण (नासिक्य वर्ण) नहीं होता। ('शम् + कर' जैसा होता तो 'क्' के वर्गीय नासिक्य वर्ण 'ङ्' से काम चल जाता, 'शङ्कर' बनाकर)। ऐसी ही स्थिति में इ, ज, ण, न, म् की जगह 'अनुस्वार' नामक स्वतंत्र वर्ण कल्पित किया गया, जिससे भाषा-व्यवस्था को 'संसार', 'संवाद' आदि के रूप में तर्क-संगत बना लिया जाए। इसी सन्दर्भ में 'संस्कृत-व्याकरण' ने सन्धि-सूत्र बनाया कि आगे किसी व्यंजन के होने पर पूर्व पदान्त 'म्' का अनुस्वार हो जाता है। (स्वयम् + सेवक = स्वयंसेवक)। फिर, 'स्वयंसेवक' में तो सम् + पूर्ण = सम्पूर्ण/युगम् + धर = युगंधर

अनुस्वार का प्रयोग अनिवार्य था, क्योंकि 'स्' का कोई वर्गीय नासिक्य वर्ण न था; किन्तु 'सम्पूर्ण' में 'प्' वर्गीय पंचम वर्ण 'म्' उपलब्ध था; 'युगंधर' में 'ध्' के वर्ग का पंचम वर्ण 'न्' प्राप्त था। ऐसी स्थिति में मानना पड़ा कि इन स्थानों पर अनुस्वार का प्रयोग वैकल्पिक होगा, क्योंकि 'म्' के वर्गीय पंचम वर्ण में ढलने की पूरी सम्भावना इनमें मौजूद है। (सम्पूर्ण, युगन्धर)। तब, नियम बनाया गया कि आगे किसी वर्गीय वर्ण या अन्तःस्थ वर्ण के रहने पर पदान्त 'म्' का हुआ अनुस्वार पंचम (नासिक्य) वर्ण के रूप में भी ढल सकता है। हाँ, पद के बीच में 'म्' की ऐसी स्थिति में उसका परवर्ती वर्ण के पंचम (नासिक्य) वर्ण में ढलना अनिवार्य किया गया। यानी, पद-मध्यवर्ती 'म्' को अनुस्वार के रूप में ढालने का निषेध किया गया। जिससे रम्य, अम्ल, नम्र आदि को रंय, अंल, नंर आदि के रूप में लिखना प्रतिबन्धित किया गया। इसी तरह 'शङ्का', 'दम्भ' आदि को 'शंका', 'दंभ' आदि लिखना भी संस्कृत में प्रतिबन्धित था। लेकिन, पण्डित कामताप्रसाद गुरु ने अपने हिन्दी-व्याकरण में अपदान्त (पद-मध्यवर्ती) 'म्' का भी वैकल्पिक तौर पर अनुस्वार से लिखने का रास्ता साफ कर दिया। जिससे हिन्दी में अंक, अंग, दंभ आदि भी लिखे जाने का औचित्य बना। (संस्कृत में अपदान्त 'म्' का परवर्ती वर्ण के पंचम वर्ण (नासिक्य) यानी इ, ज, ण, न, म् में रूपान्तरण जहाँ अनिवार्य था, गुरु जी ने उसे ऐच्छिक बना दिया था।) हिन्दी में सरलीकरण के लिहाज से अनुस्वार का प्रयोग खूब बढ़ा। हिन्दी में इ, ज, ण तो अल्पप्राप्त हैं, न-म् ही ज्यादा हैं। इसलिए अनुस्वार पाँचों नासिक्यों में से न-म् की तरह ही उच्चरित होता है अधिकतर।

इस दीर्घ परम्परा के सन्दर्भ में ही, 'केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय' का अनुस्वार सम्बन्धी विधान खड़ा हुआ है उसके अनुसार, संयुक्त व्यंजन के रूप में जहाँ पंचम वर्ण (नासिक्य) के बाद सवर्गीय शेष चार वर्णों में से कोई वर्ण हो तो एकरूपता और मुद्रण/लेखन की सुविधा के लिए अनुस्वार के ही प्रयोग को अनिवार्य बताया गया है। (जैसेपंकज, गंगा आदि) यह उचित ही है। इसके विरुद्ध कोई वितर्क खड़ा नहीं हो सकता। चूँकि अनुस्वार ध्वनि स्तर पर या वर्ण के स्तर पर ही कोई पृथक् अस्तित्व

नहीं रखता, इसलिए व्यवस्था के लिए कल्पित इस तत्त्व का व्यापकीकरण कोई गलत नहीं है। हाँ 'निदेशालय' ने यह शर्त लगायी है कि यदि पंचम वर्ण के बाद अन्य वर्ग का कोई वर्ण आए तो पंचमवर्ण अनुस्वार में परिणत न होगा। (जैसे वाङ्मय, अन्य, चिन्मय, उन्मुख आदि को वांमय, अंय, चिंमय, उंमुख आदि रूप में न लिखा जा सकेगा)। साथ ही, पंचम वर्ण यदि द्वित्व रूप में (दुबारा) आए तो अनुस्वार में परिवर्तित नहीं होगा। (जैसेअन्न, सम्मेलन, सम्मति आदि को अंन, संमेलन, संमति आदि में रूपान्तरित न किया जा सकेगा।) 'निदेशालय' ने यह व्यवस्था शब्दों के प्रचलित रूपों की एकरूपता बनाने हेतु किया अवश्य, परन्तु यह भी एक तार्किक कड़ी में है। रही उच्चारण की बात, तो वह भी असमाधेय नहीं है। कोई यह कहे कि अंकित, संचित, कंटक, वंदित, कंपन आदि लिखने से इनके उच्चारण की अनिश्चितता होगी, तो इसका सरल समाधान यह है कि अनुस्वार के आगे के वर्ण की स्थिति के अनुसार स्वतः उच्चारण की सम्भावना हैअङ्कित, सञ्चित आदि। पर, इससे भी बड़ी बात यह है कि हिन्दी-भाषी समाज में अनुस्वार कवर्ग व 'ह' के पूर्व 'ङ्' जैसा, पवर्ग के पूर्व 'म्' जैसा और शेष स्थानों पर 'न्' जैसा आमतौर पर उच्चरित होता है।

पंचम वर्ण/नासिक्य वर्ण से अनुनासिकता अलग तत्त्व है। एक वर्ण है, तो दूसरा ध्वनि/वर्ण-गुण। इनका उच्चारण-प्रक्रिया से भी भेद है। फेफड़े से चला निश्वास स्वर-तंत्री से आगे बढ़कर मुख्यतः मुख-विवर से और गौणतः नासिका-विवर से गुजरे तो उससे स्वरो की अनुनासिक स्थिति (अँ, ईँ आदि) का उच्चारण होता है। वह निश्वास यदि मुख-विवर से निकलने की अपेक्षा मुख्यतः नासिका-विवर से निकले तो उससे नासिक्य व्यंजन-वर्णों का उच्चारण होता है। इसके साथ अनुनासिकता को लेकर हिन्दी में अर्थभेदक स्थिति भी है (काटाकाँटा, हँस-हंस आदि) इस कारण भी उसकी अलग सत्ता लेखन में रखनी होगी। 'निदेशालय' ने अनुनासिकता के संकेत चन्द्रबिन्दु के प्रयोग को लेकर स्पष्ट रवैया नहीं दिखाया है। वैसे तो अर्थ-भेदक स्थिति को देखते हुए वह चन्द्रबिन्दु के प्रयोग का समर्थक है, परन्तु शिरोरेखा के ऊपर जुड़ने वाली मात्रा के साथ, छपाई की कठिनाई की स्थिति में अनुस्वार चिह्न के प्रयोग की छूट भी दे रखी है। (जैसे नहीं, में आदि)। फिर, इसके साथ उसने तुरंत ढुलमुलपन का परिचय देते हुए कहा कि "कविता आदि के प्रसंग में छन्द की दृष्टि से चन्द्रबिन्दु का यथास्थान अवश्य प्रयोग किया जाए। इसी प्रकार छोटे बच्चों की प्रवेशिकाओं में जहाँ चन्द्रबिन्दु का उच्चारण अभीष्ट हो, वहाँ मोटे अक्षरों में उसका यथास्थान सर्वत्र प्रयोग किया जाए। जैसेकहाँ, हँसना, आँगन, सँवारना, मेँ, मैं नहीं आदि।" (पृष्ठ 11) इस ढुलमुलपन की जगह क्यों न हर अनुनासिक अवस्था में चन्द्रबिन्दु का प्रयोग आवश्यक बना दिया जाए।

यदि टंकण/मुद्रण के लिहाज से देखा जाए, तो 'में' लिखें या 'मेंँ', समान रूप से श्रम पड़ेगा। (कम्पोजिंग के समय)। कम्प्यूटर पर कम्पोजिंग करते समय दोनों के

लिए तीन-तीन बार की-बोर्ड पर बटन दबाना होगा। पहली बार 'म/म्' के लिए, दूसरी बार () मात्रा चिह्न या 'इ' ध्वनि के लिए। इससे 'मे' अंकित हो जाएगा। तीसरी बार के प्रयास से या तो हम अनुस्वार (बिन्दु) डाल सकते हैं या चन्द्रबिन्दु ()। जरूरत होगी सिर्फ ऐसे की बोर्ड के विकास की, जिसमें चन्द्रबिन्दु की ऐसी सहज योजना हो।)

4. हल् चिह्न से अन्त होने वाले तथा अन्य संस्कृत-प्राप्त (कथित तत्सम) शब्दों का लेखन

हल-चिह्न के सम्बन्ध में 'निदेशालय' ने व्यवस्था दी कि "तत्सम शब्दों का प्रयोग वांछनीय हो तब हलन्त रूपों का ही प्रयोग किया जाए; विशेष रूप से तब जब उनसे समस्त पद या व्युत्पन्न शब्द बनते हों। यथाप्राक् (प्रागैतिहास), वाक् (वाग्देवी), सत् (सत्साहित्य), भगवन् (भगवद्भक्ति), साक्षात् (साक्षात्कार) जगत् (जगन्नाथ), तेजस् (तेजस्वी) विद्युत् (विद्युल्लता) आदि।" (पृष्ठ 13) इसके साथ "व्याकरण ग्रन्थों में व्यंजन संधि समझाते हुए केवल उतने ही शब्द दिए जाएँ, जो शब्द-रचना को समझने के लिए आवश्यक हों (उत् + नयन् = उन्नयन, उत् + लास = उल्लास) या अर्थ की दृष्टि से उपयोगी हों (जगदीश, जगन्माता, जगज्जननी)।" (पृष्ठ 13)

ये नियम तो सामान्यतः ठीक हैं, परन्तु 'तत्सम शब्दों का प्रयोग वांछनीय हो तब...' जैसी शर्त का क्या मतलब? वस्तुतः, सिर्फ कहना इतना चाहिए कि हिन्दी में व्युत्पत्ति और सन्धि प्रक्रिया के स्पष्टीकरण हेतु जरूरी शब्द ही संस्कृत-प्राप्त (तत्सम) हलन्त रूप में लिखे जाने चाहिए, शेष नहीं। "जगत्" शब्द को 'निदेशालय' ने हलन्त लिखने का सुझाव दिया, तो यही आधार है। परन्तु, 'साक्षात्कार', 'षट्कोण', 'हृदयंगम', 'उद्धरण', 'संचित' और चलते-चलते 'जगदीश' शब्द को भी स्वतंत्र शब्दों के रूप में ग्रहण करना ही अच्छा माना (जबकि उपर्युक्त नियम में 'जगदीश' को व्यंजन-सन्धि समझाने हेतु ग्राह्य उदाहरण माना था, 'जगन्नाथ' का तो स्वयं 'जगत्' से व्युत्पन्न होना भी संकेतित किया था)। सवाल है, व्युत्पत्ति और सन्धि-प्रक्रिया की अवहेलना कर ऐसे कितने शब्दों को स्वतन्त्र (रूढ़) शब्दों के रूप में ग्रहण करेंगे। उक्त शब्दों की ही बात लें, तो इनके घटकों 'साक्षात्', 'कार', 'षट्', 'कोण', 'उत्', 'हरण', 'सम्' आदि का कितना उपयोग व्युत्पत्ति में है। 'कार' से 'स्वीकार', 'अंगीकार', 'सत्कार', 'दुत्कार', 'बलात्कार' आदि; 'साक्षात्' से 'साक्षात्कर्ता' आदि; 'षट्' से 'षण्माता', 'षडानन', 'षडंग' (षट्+अंग) आदि। 'जगदीश' के 'जगत्' व 'ईश' से तो अलग-अलग बने शब्दों की लम्बी सूची है। (जगत्पति, जगज्जाल, जगदीश्वर, जगन्नाथ, जगद्विभूति; सर्वेश, करुणेश, मिथिलेश, अवधेश वागीश...)। यदि इन सबको रूढ़ मान लेंगे तो एक ऐसी व्युत्पत्ति प्रक्रिया से (नई जरूरतों के हिसाब से) हिन्दी में नित नए जनम रहे शब्दों पर रोक लगानी होगी या उन्हें लगातार रूढ़ ही मानते जाना होगा। यदि रूढ़ ही मानते जायेंगे, तो इनके जो घटक (रूढ़ शब्द) हिन्दी में स्वतन्त्रता से प्रयुक्त होते हैं, उनकी

इनके सन्दर्भ में तुलनात्मक तौर पर क्या व्याख्या होगी? दोनों को बिलकुल असम्बद्ध सा बतलाना होगा, जबकि दोनों में उभयनिष्ठ (और सार्थक) शब्द तत्त्व प्रत्यक्ष रहता है। एक जगह 'जगदीश', 'उद्धरण' को रूढ़ मानिए और दूसरी जगह इनके घटक 'जगत्', 'उत्' से हिन्दी-व्याकरण में व्यंजन सन्धि भी समझाइये (उत् + लास = उल्लास, उत् + नयन = उन्नयन तथा 'जगत्' से 'जगन्नाथ' तो 'निदेशालय' ने अपने उक्त नियमों में ही रखा है।) यह कैसी विसंगति है !

'निदेशालय' ने तत्सम संबोधन में 'हे राजन्', 'हे भगवन्' और हिन्दी शैली में 'हे राजा', 'हे भगवान' लिखने का सुझाव दिया है। यह 'तत्सम संबोधन' और 'हिन्दी शैली' क्या लफड़ा है? इसी तरह, नियम 2.7 में कहा गया कि "यदि तत्सम रूप में प्रयुक्त हों तो विसर्ग का प्रयोग अवश्य किया जाए। जैसे : 'दुःखानुभूति' में। यदि उस शब्द के तद्भव रूप में विसर्ग का लोप हो चुका हो तो उस रूप में विसर्ग के बिना भी काम चल जाएगा। जैसे : 'दुःख-सुख के साथी।' (पृष्ठ 12) यह कैसे कहा जा सकता है कि 'दुःखानुभूति' (इसी तरह 'हे राजन्') तत्सम-प्रयोग है और 'दुःख-सुख के साथी' (इसी तरह 'हे राजा') तद्भव प्रयोग? यदि संस्कृत-उद्धरण में ये आये हों, तभी तत्सम प्रयोग कहना हो, तब तो ठीक बात है। पर, हिन्दी वाक्य-प्रयोग में ये आएँ, तो कैसे कहेंगे कि यहाँ तत्सम है, अतः दुःख होगा, यहाँ तद्भव है, अतः दुःख होगा। हिन्दी में 'दुःख-सुख' भी समास है, 'दुःखानुभूति' भी। या तो दोनों जगह विसर्ग-युक्त हों या दोनों जगह विसर्गहीन। यह व्यवस्था ही एकरूपता की दृष्टि से उपयोगी होगी। 'राजन्' और 'भगवन्' को यदि हलन्त रूप में लिखने का सुझाव दे रहे हैं, तो इसलिए नहीं कि तत्सम प्रयोग की रक्षा का प्रश्न है, बल्कि इसलिए कि इनसे सन्धि/व्युत्पत्ति-प्रक्रिया का कुछ गहरा रिश्ता है। यदि ऐसा नहीं है, तो हलन्त लेखन भी जरूरी नहीं। 'निदेशालय' ने यह भी कहा कि "जिन शब्दों में हल्-चिह्न लुप्त हो चुका हो, उनमें उसे फिर से लगाने का प्रयत्न न किया जाए। जैसे महान, विद्वान आदि, क्योंकि हिन्दी में अब 'महान' से 'महानता' और विद्वान से 'विद्वानों' जैसे रूप प्रचलित हो चुके हैं।" (पृ. 13) 'लुप्त हो चुका है' का क्या मतलब? उपर्युक्त 'भगवान' भी लुप्त हो चुके हल् चिह्न के उदाहरण में दिया जा सकता था। जैसा 'विद्वान' वैसा 'भगवान', वैसा ही 'श्रीमान'। हाँ, इस नियम का दूसरा हिस्सा ही वह सही तर्क है, जिसके आधार पर 'महान' आदि को हलन्त लिखना जरूरी नहीं रह गया है 'क्योंकि हिन्दी में अब 'महान' से 'महानता'...जैसे रूप प्रचलित हो चुके हैं।' सही बात है। संस्कृत प्राप्त हलन्त शब्द भी हिन्दी की सपरसर्ग (दूसरी) विभक्ति बहुवचन रूप-रचना में स्वरांत शब्द की तरह आचरण करते हैं एक तथ्य है। जैसे महान, विद्वान आदि का रूप 'बालक' की तरह ही महानों, विद्वानों (ने/को...) आदि चलेंगे। तब, क्यों न इनकी पहली विभक्ति में भी रूप 'बालक' की तरह ही 'महान/विद्वान' (एक वचन), 'महान/विद्वान' (बहुवचन) ही मानें जाएँ? यानी, ऐसे शब्दों को हल-चिह्न रहित

स्वरान्त ही लिखा जाए। ऐसा करने से व्युत्पत्ति सम्बन्धी कोई बाधा हो, तब तो ठीक नहीं, परन्तु व्युत्पत्ति-प्रसंग में 'महान्' आदि की भूमिका न होकर यदि 'महान' आदि की भूमिका हो।

जैसेमहान + ता = महानता (न कि 'महान्ता'); 'महत्ता', 'विद्वता' आदि तो 'महत् + ता', 'विद्वत् + ता' आदि से बने हैं। तो इन्हें हिन्दी में स्वरान्त लिखने का ही औचित्य सिद्ध है। यही हाल 'भगवान', 'धनवान' जैसे शब्दों का है। जिस तरह 'महत्', 'विद्वत्', 'भगवत्/भगवन्' आदि इनसे अलग प्रातिपदिक हैं, उसी तरह 'राजन्' भी। पर, सवाल है किसकी कितनी भूमिका हिन्दी व्युत्पत्ति/सन्धि में है? यही मूल आधार है संस्कृत प्राप्त हलन्त शब्दों की वर्तनी के नियमन का।

वाङ्मय (वाक् + मय), चिन्मय (चित् + मय), मृन्मय (मृत् + मय) आदि की वर्तनी का नियामक भी हिन्दी में इनका व्युत्पादन है। इनके घटकों का हिन्दी व्युत्पत्ति में उपयोग भी है; अतः इनकी व्युत्पत्ति/सन्धि-प्रक्रिया का स्पष्टीकरण हिन्दी-व्याकरण में जरूरी होगा। 'निदेशालय' ने 'तत्व', 'महत्त्व' आदि को द्वित्व-रहित 'तत्व', 'महत्व' आदि रूप में लिखने का सुझाव (पृष्ठ 33) देकर इस व्युत्पत्ति/सन्धि की अनदेखी की है :

तत् + त्व = तत्त्व, महत् + त्व = महत्त्व, महत् + ता = महत्ता, सत् + त्व = सत्त्व, तत् + काल = तत्काल, सत् + ता = सत्ता आदि। स्पष्ट होना चाहिए कि जब तक हिन्दी में ऐसी व्युत्पत्ति उपयोगी होगी, तब तक इन शब्दों का द्वित्व-रहित लिखना तर्कसंगत नहीं होगा। शब्दों का गठन समझाने और अन्य शब्दों में उनके घटकों के इस्तेमाल की स्थिति देखते हुए, एकरूपता के लिहाज से इनका द्वित्व-लेखन ही प्रस्तावित होना चाहिए।

इस प्रकार, व्याकरणिक प्रक्रिया का बोध हिन्दी-वर्तनी को एकरूपता देने (स्थिर करने) में मददगार साबित होता है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

5. विदेशी / पर भाषीय ध्वनियों के लेखन की समस्या

इस सम्बन्ध में निदेशालय की पुस्तिका (2006) में जो निर्देश/सुझाव दिए गए हैं उनमें स्पष्टता/स्थिरता नहीं है।

विन्दु 2.14.1 में कहा गया कि "उर्दू से आए अरबी-फारसीमूलक वे शब्द जो हिन्दी के अंग बन चुके हैं और जिनकी विदेशी ध्वनियों का हिन्दी ध्वनियों में रूपान्तर हो चुका है, हिन्दी रूप में ही स्वीकार किए जा सकते हैं। जैसेकलम, किला, दाग आदि। (कलम, किला, दाग नहीं)। पर जहाँ उनका शुद्ध विदेशी रूप में प्रयोग अभीष्ट हो अथवा (उच्चारणगत भेद बताना आवश्यक हो, वहाँ उनके हिन्दी में प्रचलित रूपों में यथास्थान नुक्ते लगाए जाएँ। जैसे खाना : खाना, राज : राज, फन : हाइफन आदि।" (पृ. 15) इसी सन्दर्भ में 'निदेशालय' ने अपनी पुस्तिका में 1.1.9 में 'गृहीत

व्यंजन' नाम से ख, ज, फ को ('हिन्दी वर्णमाला' (1.1) से अलग विन्दु में) रखा है। फुटनोट में यह भी कहा है कि "गृहीत व्यंजन पाँच हैं : क, ख, ग, ज, फ। " 'हिन्दी-वर्णमाला' में व्यापक अर्थ भेदक तीन-व्यंजनों को ही सम्मिलित किया गया है।" (पृष्ठ 2)

यहाँ वस्तुतः उच्चारण-रक्षा की चिन्ता नहीं है, बल्कि 'अर्थ-भेद होता है' उसके लिए उच्चारण भेद (तथा उसके नुक्तेदार लेखन) की संकल्पना है। अन्यथा, 'निदेशालय' ने उच्चरित स्वरूप की रक्षा या उसके संकेतन की बात कहाँ महत्त्वपूर्ण मानी? 2.10.1 में कहा कि द्विधा उच्चारणों (है/गवैया, और/कौवा) को व्यक्त करने के लिए 'ऐ/ै', औ/ौ' चिह्नों का ही प्रयोग किया जाए। 'गवय्या', 'कव्या' आदि संशोधनों की आवश्यकता नहीं है। (पृष्ठ 14) यानी, अर्थ-भेदकता के तर्क पर 'निदेशालय' ख, ज, फ के साथ ख, ज, फ के विशिष्ट उच्चारण एवं तदनु रूप लेखन को उचित मान रहा है, अन्यथा क, ग जैसी विदेशी ध्वनियों की व्यापक अर्थ-भेदक स्थिति के अभाव में, उन्हें हिन्दी ध्वनियों (क, ग) में रूपान्तरित मानकर काम चला ले रहा है।

अर्थ-भेदकता वाले वितर्क का समाधान यह हो सकता है कि क्यों न 'खाना' (फारसी) व 'खाना' (हिन्दी) अथवा 'जरा' (तुर्की) व 'जरा' (हिन्दी) जैसे युग्मों की अर्थ-भेदकता को एक ही शब्द की अनेकार्थता के रूप में समझ लिया जाए? कोशों में जो अनेक अर्थ एक ही शब्द के दिए रहते हैं, क्या पता, वे एक ही शब्द के न होकर उनके स्रोतों से आए श्रुतिसम शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ हों! रही बात, अनेक अर्थों में से किसी खास के बोध/ग्रहण अथवा अर्थ-विलक्षणता की, तो वह तो प्रसंगवश (वक्ता-बोद्धा, देश-काल, परिस्थिति आदि के सापेक्ष) ध्वनित होने वाली चीज है। अर्थ-निर्धारण व्याकरणिक नहीं, शब्द-शक्ति (लक्षणा-व्यंजना) का विषय है। 'शर्म' (संस्कृत, अर्थसुख) और 'शर्म' (विदेशज, अर्थलज्जा) में तो कोई वर्ण-भेद व लेखन-भेद नहीं है, किन्तु अर्थान्तर है; तो इसकी व्याख्या क्या होगी?

उक्त विदेशी ध्वनियों की हिन्दी में स्थिति बन चुकी है, इसलिए उनका लेखन में भी संकेत किया जाए यह कहना ठीक नहीं। विदेशी या अन्य भाषाओं के शब्दों के हिन्दी में आने के साथ, उनकी मूल भाषागत ध्वनियाँ भी हिन्दी में आ जाती हैं। ऐसा मानना तर्कसंगत नहीं है। हिन्दी का जो औसत (शिष्ट) समाज है, उसमें जो उच्चारण स्वीकृत हैं, वे ही हिन्दी के अपने उच्चारण हैं। कुछ थोड़े से सुशिक्षित-शहरी जन यदि हिन्दी में तमाम भाषाओं से आए शब्दों का मूलवत् उच्चारण कर लें, तो वे सारे उच्चारण हिन्दी के अपने उच्चारण तो बन नहीं जाते। (यदि संसार भर के गृहीत शब्दों के सम्यक् उच्चारण का प्रयत्न किया जाएगा, तो बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो जाएगी। पहले तो यह जानना होगा कि एक-एक शब्द किस भाषा से आया? फिर यह जानना होगा कि उस-उस भाषा में वह किस प्रकार उच्चरित होता है? कोई भाषा इस प्रकार के अति कठिन प्रयत्न नहीं कर सकती। फिर, हिन्दी ही क्यों विवश हो कि

दुनियाभर के शब्दों के मूलभूत उच्चारण करे?) कुछ हिन्दीविद् यदि संसार की सारी ध्वनियों को उच्चारित करने की क्षमता पा लें, तो क्या वे सारी ध्वनियाँ हिन्दी की मान ली जाएँगी? (वे भी सारी ध्वनियाँ क्या अपनाते हैं? अरबी की 'ज़े', 'ज़्वाल', 'ज़्वाद', 'ज़ोए' जैसी ध्वनियों को एक ही ध्वनि 'ज़' के रूप में ग्रहण करते हैं। इसी तरह (ʔ) या 'ज़' अपना लेने मात्र से वे अंग्रेजी की सारी ध्वनियों को कहाँ अपना पाते हैं? फिर, अन्य-अन्य भाषाओं से आगत (शब्दों की) ध्वनियों का भी तो प्रश्न है।) 'व्याकरण' एक व्यवस्था है और कोई व्यवस्था औसत लोगों को लक्ष्य कर ही बनाई जाती है, अलोकसामान्य विलक्षण व्यक्तियों को देखकर नहीं। हिन्दी का औसत समाज उक्त सभी आगत शब्दों/ध्वनियों को अपने अनुसार हिन्दी रंग में रँगकर (ध्वनि-परिवर्तन के साथ) ग्रहण करता है। यानी, ख, ज, आदि को ख, ज आदि ही बोलता-समझता है। कोई कितना भी प्रयत्न करके 'राज़' बोले, आम हिन्दी-समाज उसे 'राज' ही समझता है। (हाँ, प्रसंगवश यह समझ लेता है कि 'राज' का अर्थ कहाँ 'राज=राजा/राजकाज' वाला है, कहाँ 'राज़ = रहस्य' वाला? 'साधु महाराज का महा राज उजागर हुआ' बोलने-लिखने पर भी वह वही अर्थ समझेगा, जो 'साधु महाराज का महा राज उजागर हुआ' बोलने-लिखने पर।)

किसी भाषा में प्रयुक्त अनन्त ध्वनियों के लिए लेखन-संकेत नहीं हो सकते, न होते हैं। हाँ, उनके स्वनिमों (स्वनों; वर्णों) के लिए (जो सीमित संख्या में होते हैं) ही लेखन-संकेत बने होते हैं। उक्त परिदृश्य के अनुसार, अभी ऐसी स्थिति नहीं बनी है कि ख, ग, ज, आदि को हिन्दी के अलग स्वनिमों का दर्जा दिया जाए (और तदनुरूप उनका लेखन किया जाए)। यदि कुछ अलग उच्चारण भी कुछ लोग कर ले रहे हैं तो तब तक इन्हें ख, ग, ज, आदि स्वनिमों का संस्वन मानकर चला जा सकता है, जब तक आम हिन्दी समाज के मनोविज्ञान में ऐसा है।

काल, कील, कूल आदि में आए प्रथम स्वन (क) अपने स्वरूप में अलग-अलग हैं, फिर भी आम हिन्दी समाज में वे एक ही स्वनिम 'क' के स्थानीय रूप हैं। इसी तरह, 'खाना' (आदि) का 'ख' (आदि) स्वन भी आम हिन्दी मनोविज्ञान में 'ख' स्वनिम का स्थानीय विकार है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर बोधित हो रहा ध्वनि-तत्त्व (स्वनिम) ही महत्वपूर्ण चीज हैवस्तुतः क्या बोला जा रहा है, वह उतना महत्वपूर्ण नहीं। यदि कोई बच्चा मन ही मन 'स्' समझ रहा है, पर बोल रहा है 'छ' (छाफ-छाफ) और श्रोता उसे 'स्' (साफ-साफ) समझ भी ले रहा है तो स्वनिम के स्तर पर वह 'छ' नहीं, 'स्' ही मान्य है। स्वनिम प्रयोक्ता वक्ता के उच्चारण (और उसके मानसिक बोध) से अधिक श्रोता/ग्रहीता के मानसिक बोध की वस्तु है। यदि बंगाली व्यक्ति 'ओ' (जोल) बोल रहा है तो तब तक उसे हिन्दी का 'अ' (जल) स्वनिम ही समझेंगे, जब तक आम हिन्दी समाज ऐसा ही समझ रहा है। आम हिन्द समुदाय यदि 'राज'

व 'राज़' के (ज × ज़) उच्चारण भेद और तदनुसार अर्थ-भेदक स्थिति को एक व्यवस्था की तरह मान लेता है, तब ज व ज वर्ण हिन्दी के दो स्वनिम हो जाएँगे। पर, अभी ऐसा नहीं है। अभी 'ज' को ही वह मानता हैउसी में 'ज़' को उसके स्थानीय विकार की तरह समेटता है तथा 'राज' जैसे शब्दों को एकाधिक अर्थों वाला मानकर चलता हैजिनका अर्थ-विभेदन प्रसंगवश बहुत आसानी से वह कर लेता है।²

इस स्थिति में हिन्दी में परभाषीय ध्वनियों (क, ख, ग, ज, फ आदि) के लेखन की कोई जरूरत नहीं लगती; चाहे वे अर्थ भेदक स्थिति ही क्यों न रखते प्रतीत होते हों।

अभी तो एक ही स्थिति में इनके मूल रूप का आग्रह किया जा सकता है। यदि कहीं विदेशी/परभाषीय कृति से कोई उद्धरण देना हो अथवा 'बाइबिल', 'कुरानशरीफ', 'कम्ब रामायण' जैसी कृतियों का पाठ करना हो, तब तो मूल उच्चारण रखना ही पड़ेगा। तदनुसार, मूल के रक्षार्थ उन्हें देवनागरी लिपि में लिप्यन्तरित करने का विशेष शौक जगे³, तब की यह बात है कि 'परिवर्द्धित देवनागरी', 'विश्वनागरी' आदि की संकल्पना आकार ले। परन्तु, इस विशिष्ट अवसर को लक्ष्य कर के इन सारे आगत ध्वनि-तत्त्वों को हिन्दी-व्याकरण की विवेचना या हिन्दी-लेखन में स्वीकृत कर लेना उसी प्रकार की बात होगी कि कुछ विशेष लोगों की यदा-कदा हवाई-यात्रा की जरूरत को ध्यान में रखकर सबके घर में हवाई अड्डा बना दिया जाए।

6. कुछ प्रकीर्ण प्रसंग

(1) 'निदेशालय' की पुस्तिका (2006) के परिशिष्ट-4 के बिन्दु-1 में 'शरम', 'शरमाना', 'सरदी' आदि लिखे गए हैं, यह कहते हुए कि "निम्नलिखित शब्दों में संयुक्ताक्षर का प्रयोग न हो।" परन्तु, बिन्दु-2 में लिखा गया 'शर्म', 'शर्मिली', 'सर्दी' आदि, यह कहते हुए कि "निम्नलिखित शब्द संयुक्ताक्षर से ही लिखे जाएँ।" यह कैसा अन्धेर है! एक जगह 'शरम' को सही माना, दूसरी जगह 'शर्म' को। (प्रसंग 'हिन्दी में आगत शब्दों की मानक वर्तनी' का है।) उचित होगा, 'शर्म/शरम' में एक को मानक मान लिया जाए। फिर, तदनुसार व्याकरणिक परिवर्तन का विधान किया जाए। यदि 'शरम' को माना, तो 'शरमाना', 'शरमीली' आदि मान्य परिवर्तन होंगे। यदि 'शर्म' को माना, तो 'शर्माना', 'शर्मिली' मान्य परिवर्तन होंगे। परन्तु, निदेशालय, ने एकरूपता का विचार न किया। (दरसाना, हरसाना आदि क्रमशः 'दरस', 'हरस' आदि से बने हैं, जो हिन्दी तद्भव हैं।) मुस्कान > मुस्काना, मुस्कराहट। यदि मुसकान > मुसकाना आदि।

(2) उक्त पुस्तिका में बिन्दु 3.1 में 'नौ' वर्तनी मानी गई, पर क्रमसूचक रूप 'नवाँ' बनाया गया। यह ठीक है कि एक, दो, तीन, चार, छह के क्रमसूचक भी कुछ अलग प्रकार के हैंपहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, छठा (जो केवल 'वाँ' जोड़कर नहीं बनाए गए।) परन्तु, पाँच, सात, आठ आदि की तरह यदि 'नौ' का भी क्रमसूचक सीधे

‘वाँ’ जोड़कर बना लिया जाए तो क्या हर्ज है? ‘नवाँ’ से ‘न/नव+वाँ’ जैसी व्युत्पत्ति से तर्कपूर्ण है नौ +वाँ की व्युत्पत्ति।

(3) उऋण : पुस्तिका (2006) ने बिन्दु 2.9.1 में ‘उऋण’ को ‘संस्कृतमूलक तत्सम’ शब्द मानकर उसके इसी रूप में लिखने का सुझाव दिया। ‘उऋण’ संस्कृत शब्द⁴ कहाँ है? (‘ऋण’ भले है।) यह ठीक है कि संस्कृतागत ‘ऋण’ शब्द से ही भ्रमपूर्ण व्युत्पत्ति के तहत यह शब्द (‘ऋण-मुक्त’ के लिए) हिन्दी में बन गया है, किन्तु हिन्दी की निजी शब्द व्यवस्था में ‘ऋ’ की सत्ता नहीं है। केवल संस्कृतागत शब्दों में ही एक शब्द के लिए ‘ऋ’ को मानना ठीक नहीं। इसी से ‘उऋण’ की जगह ‘उरिण/उरिन’ लिखना ठीक रहेगा। फिर, इस शब्द को ‘ऋण’ से व्युत्पन्न नहीं, रूढ़ शब्द मानकर व्याकरणिक व्यवस्था देनी होगी। (नहीं तो ‘उ+ऋण/रिन/रिण’ की व्युत्पत्ति तो अतार्किक होगी।) इसी तरह ‘छह’ व ‘छिह/छी’ रूप ही ठीक होंगे; न कि ‘छः’, ‘छिः’, ‘छिः’कारण, हिन्दी की अपनी व्यवस्था (तद्भव शब्दावली) में विसर्ग नहीं होता।

(4) नैऋत्य : यह वर्तनी चलती है। किन्तु, यह इसलिए तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि ‘ऋ’ स्वर है और स्वर के सिर पर व्यंजन (ः) का जाना पूरी व्यवस्था से हट कर होगा। आमतौर पर स्वर (मात्रा-रूप) ही व्यंजन के ऊपर (दाएँ-बाएँ भी) जाता है, व्यंजन स्वर के ऊपर नहीं लगता। इसी से ‘नैऋत्य’ या (नैऋत्य) लिखना तर्क-पूर्ण होता।

(5.) पुल्लिंग : आज व्याकरण तक की कई किताबों में ‘पुल्लिंग’ यह वर्तनी मिलती है। पर शब्द की व्युत्पत्ति ‘पुम+लिंग’ होने के कारण ‘पुल्लिंग’ वर्तनी अधिक ग्राह्य है। ‘पुल्लिंग’ तो भ्रमपूर्ण व्युत्पत्ति की देन है।

(6) राजनीतिक/राजनैतिक : ये दोनों रूप मुद्रण एवं लेखन में चल रहे हैं। ‘राजनीतिक’ को सही ठहराने वाले इसकी व्युत्पत्ति ‘राजनीति+क’ से बताते हैं, जिसमें ‘क’ को वे स्वार्थिक प्रत्यय मानते हैं। उनके अनुसार, जिस तरह ‘लेखक’ है, उसी तरह ‘राजनीतिक’। लेख+‘क’ (स्वार्थिक प्रत्यय) से वे लेखक की सिद्धि मानते हैं। पहली बात, ‘लेखक’ को हिन्दी में यौगिक शब्द मानें या न मानें यही सवाल है। यदि उनकी बात मानकर उसे ‘लेख+क’ से सिद्ध मानें, तो ‘वादक’, ‘धावक’ आदि ढेरों शब्द ऐसे हैं, जिनकी व्युत्पत्ति हिन्दी में बतलाना मुश्किल है संस्कृत में तो ‘लिख्’, ‘धाव्’ आदि धातुओं से इनकी व्युत्पत्ति बतला सकते हैं, किन्तु हिन्दी के लिए ‘धाव’, ‘वाद’ आदि को मूल शब्द मानना असंगत है। हिन्दी में ये शब्द हैं कहाँ? हिन्दी में तो ‘लेखक’, ‘धावक’ आदि को मूल शब्द मानना ही ठीक रहेगा। दूसरी बात, ‘लेख’ में ‘क’ जुड़ा हुआ मानें, तो भी वह स्वार्थिक प्रत्यय कैसे है? ‘बाल+क = बालक’ में ‘क’ स्वार्थिक (उसी अर्थ में गया) प्रत्यय है। इस प्रकार, ‘राजनीतिक’ शब्द को किसी तरह सही ठहराना मुश्किल है।

राजनैतिक शब्द उसकी अपेक्षा तर्कसंगत है। ‘नीति+इक = नैतिक’ व्युत्पत्ति तो मान्य है ही। हाँ, कुछ लोगों के अनुसार, ‘राजनीति+इक’ से ‘राजनैतिक’ नहीं बनेगा, क्योंकि ‘इक’ प्रत्यय के स्वभावानुसार ‘राजनीति’ के प्रथम अक्षर (‘रा’) में यह विकार पैदा नहीं हो रहा है, बल्कि आगे ‘नी’ में हो रहा है। यह समस्या अपनी जगह है। फिर भी, उसमें कहीं तो विकार हो रहा है। इसी से ‘इक’ प्रत्यय से व्युत्पत्ति मानकर ‘राजनैतिक’ प्रयोग को मान्य बनाना ठीक होगा।

संदर्भ

1. निदेशालय की पुस्तिका (2006) के ‘परिशिष्ट-4’ में बिन्दु 1 में रखी गई वर्तनी का खयाल बिन्दु 2 में नहीं किया गया। जैसे बिन्दु 1 में ‘शरम’, ‘शरमाना’, ‘सरदी’ हैं, तो बिन्दु 2 में ‘शर्म’, ‘शर्मली’, ‘सर्द’ हैं। (पृ. 32)
2. ‘निदेशालय’ की पुस्तिका (2006) में अंग्रेजी शब्दों की अर्द्धविवृत ध्वनि ‘0’ के लिए कहा गया है कि हिन्दी में उनके शुद्ध रूप का प्रयोग अभीष्ट होने पर ‘आ’ की मात्रा के ऊपर अर्धचंद्र का प्रयोग किया जाए (ऑ/ँ)। (पृष्ठ 16, बिन्दु 2.14.2) अंग्रेजी शब्दों के देवनागरी-लिप्यंतरण के बारे में पुस्तिका में कहा गया है कि वह इतना क्लिष्ट नहीं होना चाहिए कि देवनागरी में अनेक नए चिह्न लगाने पड़ें। साथ ही, यह भी शर्त लगाई कि लिप्यन्तरण मानक अंग्रेजी उच्चारण के अधिकाधिक निकट होना चाहिए। (पृष्ठ 16, बिन्दु 2.14.2)
- यहाँ भी कहना चाहिए था कि अंग्रेजी शब्दों का जो उच्चारण हिन्दी की ध्वनि प्रकृति के अनुसार हो चुका हो, उसी का पालन लिप्यंतरण में हो। रही बात ‘ऑ’ आदि की, तो उपर्युक्त ‘ज’ आदिवाला तर्क यहाँ भी चलेगा। यदि डॉक्टर, कॉल आदि को भी जनता डाक्टर/डौक्टर, काल/कौल आदि ही समझ-बूझ रही है, तो लेखन भी वही होगा। हाँ, एक सिद्धान्त की तरह हम वर्तनी का विधान नहीं कर सकते कि विदेशी ध्वनियों को लिखा ही न जाए। जनता यदि ‘ऑ’ को मान चुकी है तो लिख सकते हैं।
3. ‘भुवनवाणी ट्रस्ट’, मौसम बाग, सीतापुर रोड, लखनऊ इस दिशा में व्यापक प्रयास कर रहा है। वह कई भाषाओं की मूल कृतियों को मूल लिपि के साथ परिवर्धित देवनागरी में भी ढाल रहा है।
4. संस्कृत में लगातार दो स्वरों के आने के उदाहरण केवल दो शब्दों में मिलते हैं ‘तितउः’ ‘प्रउगम्’। इनके अर्थ क्रमशः ‘चलनी’ और ‘त्रिकोण’ हैं। (‘संस्कृत-हिन्दी-कोश’ वामन शिवराम आष्टे)

ऋग्वैदिक ग्रह-नक्षत्रों से संबद्ध कुछ तथ्य एवं मिथक

राजीव रंजन उपाध्याय*

ऋग्वेद के अनुशीलन से, पुराकालीन आर्यजनों के नक्षत्रादि की चर्चा तो स्पष्ट है ही, उसी के साथ सूर्य और चन्द्र की गति के फलस्वरूप उत्पन्न ऋतु परिवर्तनों के भी स्पष्ट संकेत उपलब्ध हैं। एक मंत्र में अजुर्नी और अघा नामक नक्षत्रों की स्पष्ट चर्चा है तथा एक अन्य मन्त्र में वर्ष, अयन और उसमें निहित दिनों की, पितृयान और देवयान की चर्चा है जिनका सम्बन्ध बसन्त निपात से है।^{1,2} निश्चय ही पूर्व वैदिक जनों के ग्रह-नक्षत्रों मंडलों के निरीक्षण से यह ज्ञान दीर्घकाल में प्राप्त हुआ होगा।

ऋग्वेद घोषित करता है कि वरुण ने सूर्य के आवागमन हेतु एक प्रशस्त पथ का निर्माण किया था³ जिस पर आदित्य वास करते हैं। इसी ऋत पथ पर सरमा ने इन्द्र की गायों को खोजा था⁴, महाजन इसी पथ का अनुसरण करते हैं, क्योंकि यह ऋत-पथ है।

वास्तव में ऋत शब्द की उत्पत्ति ऋ धातु से हुई है, जिसका अर्थ जाना जाता है, तथा यह चक्रीय पथ अनादि है। इसी सतत गतिमान चक्र, जो राशि पथ क्रान्ति वृत्त पर स्थित है, को बारम्बार रात्रि शब्द से संबोधित किया गया है।⁵

ऋग्वेद का यह मन्त्र⁶ जो कहता है कि “अत्रि ही सूर्य को पूर्ण रूपेण जानते हैं” महर्षि अत्रि द्वारा सर्वप्रथम देखे गए सूर्य ग्रहण की ओर संकेत करता है।

प्राचीन काल में आर्यजनों ने आकाश में चमकते हुए ग्रहों, जिनका अर्थ एक पथ विशेष को ग्रहण किए हुए, जकड़े हुए, उस पर चलने वाले ज्योतिषीय पिण्डों(अथो नक्षत्राणमषा मुयस्थे सोम अहितः। ऋ. 10, 85.2) को देखकर उनका नामकरण करने का प्रयास किया होगा। फलस्वरूप बृहस्पति, शुक्र और शनि सम दीपमान ग्रह उनकी दृष्टि में आकर्षण के केन्द्र थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र में शुक्र और मंथिन का वर्णन उपलब्ध है⁷ और तैत्तरीय ब्राह्मण में वर्णित है कि बृहस्पति का प्रथम उदय तिष्य नक्षत्र में हुआ था⁸, जो कालान्तर में विकसित फलित ज्योतिष के अनुसार शुभकारी होता है।

* पूर्व प्रोफेसर, कैंसर शोध, तबरीज विश्वविद्यालय तबरीज, ईरान, 'विज्ञान' परिसर कोठी काके बाबू, देवकाली, मार्ग, फैजाबाद 224001

शुक्र ग्रह का तिलक महोदय के अनुसार, एक नाम वेन भी है।⁹ तथ्यतः ऋग्वेद के दशम मंडल का 123वां मन्त्र वेन को संबोधित है। इस शब्द का अर्थ महर्षि यास्क¹⁰ के अनुसार “यह मध्य आकाश में स्थित एक देव, जिसका अर्थ कामना एवं प्रेम है।” उपर्युक्त मन्त्र में इसके ऋत पथ पर आसीन होने और उसी पथ पर चलने की चर्चा है तथा यह भी कहा गया है कि यह समुद्र की लहरों के संग प्रकट होता है।

इसी प्रकार की अवधारणा, प्राचीन यूनान-ग्रीस में इस ग्रह के विषय में विद्यमान थी, कि यह ग्रह समुद्र के फेन से उत्पन्न हुआ है। डॉ. ह्वाइट ने अपनी लैटिन-इंग्लिश कोष में इस बेनस शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के वेन वेनस शब्द से ही मानी है,¹¹ जो कालान्तर में ग्रीक भाषा में लिंग परिवर्तन के फलस्वरूप वीनस अथवा काम-देवी हो गया जिस प्रकार चन्द्रमा का लिंग परिवर्तन यूरोपीय भाषा में हो गया।

शुक्र ग्रह की खोज, आर्यजनों ने पुराकाल में ही कर ली थी, इसी कारण ग्रीक भाषा का Kurpis शब्द काम-देवी वीनस का द्योतक है साथ ही साथ शास्त्र के अनुसार यह Kupris कुप्रिस Kupros कुप्रोश-शुक्रोष शब्द में परिवर्तित होकर शुक्र की ध्वनि देता है।

स्पष्ट है कि शुक्र ग्रह की खोज के अधिक अंतराल के उपरान्त ही आर्यजनों की शाखा में विभाजन हुआ होगा और इसी कारण ग्रीक भाषा में यह शब्द पुराकाल के स्मृति के उद्घोषक के रूप में विद्यमान है।¹²

ऋभुओं की चर्चा ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में विद्यमान है तथा इनके सद्कर्मों की सराहना प्रचुरता से की गई है।¹³ यह भी कहा गया है कि ऋभुगण सम्बतसाम अथवा संवतसर के सहयोगी हैं¹⁴ तथा वर्ष पर्यन्त सहयोगी कार्य में रत रहते हुए सूर्य की गायों-किरणों की सहायता करते हैं।¹⁵ एक मन्त्र में यह भी उच्चारित है कि ऋभुगण सूर्य के अगोह्य में बारह दिनों तक शयन करते हैं।¹⁶ ऋभुओं का प्रत्येक संवतसर में बारह दिनों के लिए विश्राम करना एक अति महत्त्वपूर्ण तथ्य है। यहाँ पर यह ध्यान देना आवश्यक है कि ऋभुगण मात्र सूर्य की किरणों के सहायक ही नहीं हैं; वरन इनका घनिष्ठ संबंध ऋतु-चक्र परिवर्तन से है। इसका स्पष्ट संकेत ऋग्वेद में विद्यमान है।¹⁷ ऋतु परिवर्तन ऋभुगण प्रसन्न हो उठते हैं।

तीन ऋभु जो समय प्रवाह में सुधनवान के पुत्र-ऋभु, विभवान और बाज के रूप में प्रतिष्ठित हुए, संकेत देते हैं कि पुराकाल में आर्यजन-मध्य एशिया के सम्भवतः जिस क्षेत्र में 6000 से 5000 वर्ष ई.पू. (अदिति काल) वास करते थे वहाँ पर उस समय मात्र तीन ऋतुएँ होती थीं। कालान्तर में आधुनिक वृहत यूराल क्षेत्र की सीमा से लगे कजाकिस्तान क्षेत्र के आरकाइम (ARKAIM)¹⁷ तथा समीपवर्ती स्थानों पर वास करते हुए तथा उसी क्षेत्र के सबसे ऊँचे पर्वत, जिसके आज रूसी नाम धारण (बेलूखा-पर्वत) करने के उपरान्त भी क्षेत्रीय आल्टिमा भाषा-भाषी जन, इसे उच्च-सुमेरु के नाम से संबोधित करते हैं तथा जहाँ से चारों समुद्र बराबर की दूरी पर हैं, को

‘नाभा पृथिव्या’ कहा होगा। यही भारतीय मानस में रचा बसा समेरु गिर है।¹⁸ विद्वानों ने आरकाइम क्षेत्र में बने भवनों, दुर्गों और नक्षत्र-वेधशालाओं युक्त सभ्यता को एन्द्रानावो नामक ग्राम से सम्बद्ध नाम दिया है।

इनीसेल सरिता की उपत्यका में बसा यह ग्राम दक्षिणी साइबेरिया के चेल्याविन्सक जनपद में स्थित है। यद्यपि कुछ अनुमानों के अनुसार आरकाइम क्षेत्र की संस्कृति बारह हजार वर्ष पुरानी है पर प्राप्त अवशेषों के अध्ययन के उपरान्त उनकी आयु ई. पू. 2200 से 1600 वर्ष तक मानी जाती है। तथ्यतः ईसिम और तोबाल सरिताओं के कूल पर बसे पश्चिमी साइबेरिया के मैदानी क्षेत्र में यूराल पर्वत शृंखला के पूर्व में स्थित आर्य सभ्यता से संबद्ध 30 स्थलों की खोज रूसी इतिहासविदों ने 1989 ई. में की थी। इनके तथा सिन्तस्थ सभ्यता के 250 से अधिक स्थलों को जो कजाकिस्तान के स्टेपे से लेकर एनेसीई, पामीर और तिआनशान तक फैले हुए हैं, को सिन्तस्थ-आरकाइम सभ्यता के नाम से संबोधित किया गया है।¹⁸

ऋग्वेद वर्णित दध्यंच की कथा (ऋ. 1/16/12) को पोटापोवका, कारसनोयारस्क जनपद, कुईवीशेव उत्तर वोल्गा स्टेपे के शवाधान से प्राप्त मानव कंकाल, जिसके कटे हुए सर के स्थान पर घोड़े का सर लगा था और उस व्यक्ति का सर उसके पैरों के समीप पड़ा था, उसके घुटनों के पास से प्राप्त गाय का कटा हुआ सर एवं बोन पाइप-अस्थि तूर्य अथवा सोमपान हेतु प्रयोग में लाई जाने वाली अस्थि नलिका^{18अ} इसके संभावित वैदिक संबंधों का उद्घोष करती है।

उसी प्रकार आरकाइम क्षेत्र स्थित वेधशाला से वैदिक जनों को नक्षत्र गणना ज्ञान के साथ तिष्य नक्षत्र में बृहस्पति ग्रह की उपस्थिति का भी ज्ञान 4650 ई. पू. पूर्व में हुआ हो।

इस क्षेत्र से सम्बन्ध गणनाएँ इसी तथ्य का संकेत करती हैं कि इस क्षेत्र की प्राचीनता बृहस्पति ग्रह के अन्वेषण के काल के आस-पास ठहरती है।^{8,18}

आरकाइम क्षेत्र के स्वास्तिक युक्त भवनों, नक्षत्र वेधशाला-जो ग्रह-नक्षत्रों के अध्ययन हेतु निर्मित थी, संकेत देती है कि सम्भवतः ऋग्वेदिक मन्त्रों में वर्णित ग्रह-नक्षत्रों के अध्ययन के विवरणों तथा इन्द्र के नाम से सम्बद्ध यह संस्कृति, ऋग्वेदिक तथ्यों को वृहत्तर आयाम प्रदान करने में सक्षम है।¹⁸

उस क्षेत्र में ऋतु परिवर्तन (बसंत के आगमन पर) के फलस्वरूप पृथ्वी फल-फूल युक्त हुई, झरने पुनः गतिमान हुए, नववृक्ष-पादप पल्लवित हुए और यह चक्र निरंतर इसी प्रकार चलता रहता है।¹⁹

बारह दिनों तक शयन करने के उपरान्त ऋभु गण सूर्य से प्रश्न करते हैं कि ‘हमको किसने जगाया?’ सूर्य का उत्तर था ‘श्वान ने।’¹⁹ इस श्लेषात्मक भाषा में वर्णित श्वान है कौन? इस पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि ऋभुगणों का जागरण संवत्सर के अन्त में, वर्ष के अन्त में होता था तथा चन्द्र वर्ष से 12 दिन

निकालकर सौर्य वर्ष में युक्त करने से एक वर्ष पूरा हो जाता था। वास्तव में यह बारह दिन न चान्द्र अथवा न सौर्य वर्ष के होते हैं। यही वह समय है जिसमें ऋभु गण शयन करते हैं, विश्राम करते हैं। जिस श्वान ने उन्हें निद्रा से उठाया था, वह वास्तव में नक्षत्र मंडल का महाश्वान Canis Major था। क्योंकि इस नक्षत्र में बसंत निपात होने के ही परिणामस्वरूप धरा जागृत होती थी वनस्पतियाँ प्रगट होती थीं और हिम के पिघल जाने के कारण झरनों का प्रवाह प्रारम्भ हो जाता था।

वैदिक आर्यजनों ने पृथ्वी के सूर्य की प्रदक्षिणा करने की गति के अनुसार वर्ष को दो अयनों में विभक्त किया था। यह गति उत्तरायण (देवयान) और दक्षिणायण (पितृयान) पथ थे। ऋग्वेद में यम का, पितृयान का मार्ग देवयान के विपरीत है तथा अग्नि ऋतु के अनुसार देवयान को जानते हैं।²⁰ यह 6 मास की अवधि, बसन्त, ग्रीष्म और वर्षा देवयान में तथा पितृयान पथ में, शरद, हेमन्त तथा शिशिर ऋतुएँ आती थीं। तथ्यतः मध्य एशिया के ऋतु चक्र और भारत के ऋतु चक्रों में अन्तर है। भारत में वर्षा का प्रारम्भ ग्रीष्म के उपरान्त होता है, परन्तु आर्यों के मध्य एशिया प्रवास के काल में यह पतझड़ के समाप्ति पर प्रारम्भ होती थी। देवयान ही यज्ञों और शुभकर्मों के करने का समय माना गया था।

वैदिक आर्यों ने सूर्य के प्रकाश की कल्पना गाय, वृष, बराह अथवा अश्व के रूप में की थी तथा विद्वान होमर के शब्दों में “मात्र सूर्य ही नहीं वरन समस्त नक्षत्र गण समुद्र की लहरों में स्नान कर प्रगट होते हैं।”¹⁹ यही मिथक होमर से पूर्ववर्ती ऋग्वेद में ध्वनित होता है कि “सूर्य समुद्र से प्रगट होता है।”

परन्तु इस पर प्रहार करता हुआ, आत्रेय ब्राह्मण घोषित करता है कि सूर्य कभी अस्त नहीं होता।¹² ऋग्वेद के पांचवें मण्डल का 40वाँ मन्त्र संकेत देता है कि अत्रि ऋषि ने सर्वप्रथम सूर्य ग्रहण को देखा था, इसी कारण इस मंडल का अन्तिम मन्त्र कहता है कि मात्र अत्रि ही सूर्य को जानते हैं। सूर्य ग्रहण की चर्चा शाखायन (24.3) और सूर्य ताण्ड्य ब्राह्मण (4, 3.2,; 6, 14) में भी है।

महर्षि अत्रि द्वारा देखा गया ग्रहण सूर्य ग्रहण था। उस समय नभ में नक्षत्र स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगे थे। उन्होंने इस सूर्य ग्रहण को तुरीय ब्रह्म (तुरीय यंत्र) की सहायता से देखा था।¹²

सूर्य की गति से संबंधित है देवयान और पितृयान की कल्पना। ऋग्वेद के एक मन्त्र में स्पष्ट किया गया है कि स्वर्ग के अवरुद्ध द्वार के रक्षक वैवस्वत यम हैं तथा यह मार्ग अनन्त सलिल के मध्य से जाता है।²¹

वैवस्वत यम उस युग में भीषण कर्मा नहीं माने गए थे। उनके विषय में इस प्रकार कल्पना कालान्तर में विकसित हुई होगी। यम पितृयान, दक्षिणी गोलार्ध के स्वामी थे तथा इन्द्र, तम आवृत पितृयान मार्ग के विपरीत प्रकाशमान, ज्ञान मार्ग, देवयान के रक्षक थे। मध्य का सलिल पथ आकाश गंगा थी।

वास्तव में यह कल्पना ऋतु चक्र से जुड़ी है, जिसमें बसंत, ग्रीष्म एवं वर्षा ऋतु देवयान हैं तथा शरद, हेमन्त एवं शिशिर-पितृयान के द्योतक हैं। स्पष्ट है कि षडऋतु की यह कल्पना, आर्यों के उत्तर हिममंडित क्षेत्र से मध्य एशिया और उससे आगे चलकर भारतीय भू-भाग में प्रविष्ट होने के उपरान्त विकसित हुई होगी।

ऋतुओं के, तीन ऋतुओं के जागरण की कल्पना इसकी पूर्ववर्ती है तथा संकेत देती है कि उस काल में सुदूर साईबेरिया क्षेत्रों में भी मात्र तीन ऋतुएँ होती थीं।

देवयान और पितृयान की आवधारणा का विकास मृगशिरा नक्षत्र में बसंत निपात के उपरान्त प्रारम्भ हुआ होगा, क्योंकि पुराकालीन आर्यजनों का जीवन यज्ञादि शुभकर्मों के चतुर्विध घूमता था।²¹

पितृयान और देवयान के रक्षक दो श्वान माने गए हैं। इन द्वारों को सदा खुला रखने की प्रार्थना ऋग्वेद में की गई है तथा प्राचीन ग्रीक-यूनानी परम्परा में प्रचलित था कि सद्कर्म व्यक्ति कर्क राशि और वृश्चिक राशि के मार्ग से चलकर स्वर्ग द्वार तक पहुँचते हैं।¹² यह वर्णन संकेत देता है कि उस काल के ऋषियों को राशिपथ का पूर्ण ज्ञान हो गया था।

प्राचीन ईरानी आर्यों की अवधारणा थी कि अंतरिक्ष स्थित ऋतु परिवर्तन बिन्दु एक सेतु है जो स्वर्ग और नर्क को जोड़ता है तथा दो श्वान जो इस चिन्वात-सेतु के दोनों ओर रहते हैं मृत आत्मा को उस लोक में प्रवेश करने में सहायता करते हैं। ये चार आँखों वाले श्वान यम लोक के मार्ग के रक्षक हैं।

‘द सैक्रेड-बुक्स आफ ईस्ट’ में दारमेरत्रतर ने एक ग्रीक मिथक की चर्चा की है कि केरबेरास (Kerberos) और आर श्रोस नामक श्वान नर्क के द्वार की रक्षा करते हैं। वैदिक वाङ्मय में इन्हीं यम के दोनों श्वानों का रंग श्याम और शावाल-चितकबरा, है। विद्वानों ने केरबेरास को वैदिक श्वान शर्वर और ऑरथास को वृत्र का परिवर्तित स्वरूप माना है।¹²

इस कल्पना की कुक्षि में निहित तथ्य है बसंत ऋतु का निपात अग्रहायण-ओरीयान नक्षत्र में होना और उस काल में Canis Major एवं Canis Muior महाश्वान और लघु श्वान नामक तारे मंदाकिनी-आकाश गंगा के दोनों छोरों पर स्थित रहे होंगे। यदी चिन्वात सेतु है जो ईरानी आर्यों के अनुसार चकन्दे-दाइ तक से लेकर अरेजुरजो नर्क का द्वार है, तक विस्तृत है। यही आर्यों की वैतरणी है, जो ग्रीक मिथकों चेरान की कथा के रूप में विद्यमान है। इसी वैतरणी में त्वरण के हेतु ‘देविम् नावम्’ की आवश्यकता पड़ती है।²²

देव और पितृयान के रक्षक श्वानों को ऋग्वेद ‘चर्तु अक्षम’ और आवेस्ता ‘चहारचश्मन’²³ चार आँखों वाला मानता है। तथ्यतः केनिस मेजर-महाश्वान स्थित चार छोटे तारे जो इस अन्तरिक्ष में कई प्रकाश वर्ष की दूरी पर हैं, इन श्वानों के ‘चर्तुअक्षम्’ होने के कारक हैं।¹²

पूर्व उल्लिखित चर्चा कि इन्हीं श्वानों ने ऋतुओं को उनके 12 दिनों के शयन से उठाया था, इंगित करता है कि उस समय बसंत का निपात श्वान नक्षत्र के समीप होता था, जिसके परिणामस्वरूप ये श्वान सूर्योदय के पूर्व दिखकर प्रकृति के पुनर्जागरण का संदेश देवयान के प्रहरी रहते हुए प्रेषित करते थे। यह समय यज्ञादि शुभ कर्मों के करने का होता था।

मृगशिरा नक्षत्र मंडल में अनेक तारे हैं और इन सभी में से तीन छोटे योगतारक नक्षत्र मृगशिरा का निर्माण करते हैं। इसके ऊपर स्थित दो तारे मृग के कंधों का और नीचे स्थित दो कम आभावान तारे मृग के पैर की कल्पना को साकार करते हैं। समीपस्थ आद्रा नक्षत्र को इस आकृति से संयुक्त करने पर स्वरूप और स्पष्ट हो जाता है। वास्तव में यह पूर्ण मृग की स्पष्ट आकृति न होकर मात्र उसका सिर ही है।

शतपथ में वर्णित है कि इस मृगशिरा रूपी प्रजापति को रुद्र ने वाण से काट दिया। यही वाण और सिर आकाश में स्थित हैं।²⁴

इसी प्रकार का परन्तु किंचित परिवर्तित रूप में ऋग्वेद में वर्णित हैं जिसमें मृगरूपी शत्रु के सिर को काट देते हैं।²⁵

वास्तव में यह मृगशिरा ही अग्रहायण मंडल है। वैदिक जन इसी नक्षत्र से अयन का प्रारम्भ मानते थे। कालान्तर में पाणिनि इसी को अग्रहायणी नाम से सम्बोधित करते हैं।²⁶ इसी नक्षत्र मंडल से संबद्ध अनेक मिथक ऋग्वेद में विद्यमान हैं जिसमें से दो की चर्चा संक्षिप्त में की गई है और उन्हीं मिथकों से साम्य रखते हुए कुछ ग्रीक मिथकों-यूनानी मिथकों की चर्चा पुराकाल में आर्यजनों को एक साथ वास करने का संकेत भी देती है।

ग्रीक जन इस अग्रहायण को ओरीआन नाम से संबोधित करते थे और समय के साथ इसका मानवीकरण हो गया। इन्हीं ग्रीक मिथकों में, ओरीआन को, उसके प्रेम बंधन में बंधी इओस (Eos), लेकर भाग जाती है। परन्तु देवों को यह व्यवहार प्रिय न लगा। उन्होंने आर्टेमिस (Artemis) को वाण द्वारा इसका वध करने के लिए कहा। यह कटा सर ही मृगशिरा नक्षत्र है।

एक अन्य मिथक में ओरीआन, अपोलो की बहन आरटेमिस को प्यार करता है। इस सम्बन्ध को समाप्त करने के लिए अपोलो अपनी बहन को समुद्र स्थित दूरस्थ एक लक्ष्य को भेदने के लिए कहता है। अपोलो की बहन लक्ष्य भेद करती है। वह विद्ध लक्ष्य अपोलो का सर होता है।

ग्रीक मिथकों के अनुसार ओरीआन की मृत्यु वृश्चिक दंश के परिणामस्वरूप हो जाती है। इस मिथक की पृष्ठभूमि में निहित तथ्य है, वृश्चिक राशि के पूर्व में प्रातः उदय होने के पहले मृगशिरा नक्षत्र का अस्त हो जाना। ग्रीक-यूनानी मिथकों के अनुसार अपनी मृत्यु के उपरान्त ओरीआन नक्षत्रों के मध्य भीमकाय स्वरूप धारण कर असि और कटिबंध सहित स्थित हो जाता है।²⁹

जर्मन मिथकों में एक जंगली व्याध का विवरण मिलता है, जो आकाशस्थ है तथा वोडेन अथवा गॉडेन नाम से जाना जाता है। यह व्याध, वैदिक रुद्र है। यह प्रजापति-मृगशिरा का आखेट करता है। यह मृग फ्रेयर पालित है। फ्रेयर देवता-उर्वरा का एवं सूर्य का प्रतीक है प्रजापति का स्वरूप है।

जर्मन और इंग्लिश परम्परा में पूर्वकाल नव वर्ष का जो उत्सव मनाया जाता था, वह 12 दिनों तक चलता था। इसको जर्मन भाषा में die zolftend ज्वेल्फटेन कहा जाता था। जर्मन में ज्वेल्फ संस्कृत का द्वादश होता है। यह उत्सव वैदिक ऋभुओं के 12 दिन तक विश्राम कर पुनः नव वर्ष में जागृत होने तथा पृथ्वी के गर्भ से वनस्पतियों के प्राकट्य का स्मरण है।

इस उत्सव में एक व्यक्ति मृग बनता था और दूसरा उसका पृष्ठ भाग बनकर (मुख्यतः वृद्धा स्त्री) दर्शकों का मनोरंजन करता था। इसमें अनेक अश्लील गीत गाए जाते थे। यह गीत भारतीय ग्रामीण परम्परा के अनुरूप थे। सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में विवाह के अवसर पर अश्लील गीतों के गाने की परम्परा आज भी जीवित है।

इस प्राचीन उत्सव के उपरान्त प्राचीन जर्मन और इंग्लिश जनों की अवधारणा थी कि इस अवधि में देवगण मानव धरा पर विचरण करने आते हैं। जर्मन जनों का वोडन, रुद्र की भाँति एक कुशल चिकित्सक, महाभिषक था।^{12,28}

भारोपीय पूर्वजों ने सूर्य और उसके प्रकाश की किरणों को वृष, बराह, गाय अथवा अश्व के रूप में कल्पना की थी। उनकी अवधारणा थी कि उनका वध प्रतिदिन सूर्यास्त के समय हो जाता है और सूर्योदय के साथ पुनः प्रातःकाल में वे जीवित हो उठते हैं।

जर्मन और उसके उत्तर दिशा में स्थित देशों में मध्यशीत ऋतु में सूर्य का प्रकाश क्षीण हो जाता है। अधिकांशतः सूर्य बादलों के मध्य आच्छादित रहता है। इसी कारण पुराकालीन जर्मन जनों का विश्वास था कि सूर्य का विनाश एक देव द्वारा कर दिया जाता है, जो रात्रि का, शीतकाल का एवं झंझावत का देवता था।

जर्मन जन, क्षीण सूर्य के अस्ताचल पर जाते ही, पूर्ण आभा के साथ चमकते मृगशिरा मंडल को देख सकते थे। क्रमशः ऋतु चक्र का परिवर्तन सूर्य के प्रकाश को तीक्ष्णता प्रदान कर देता उस अवधि में देवगण धरातल पर आते थे। यह परम्परा अग्रहायण नक्षत्र में बसंत नियात काल से प्रारम्भ हुई होगी।

प्राचीन ईरानी मान्यताएँ और मिथक जर्मन मिथकों के समान रोचक हैं।

ऋग्वैदिक मान्यता के अनुसार सोम मृगशिरा नक्षत्र का प्रमुख देवता है। स शब्द के ह में परिवर्तित हो जाने के कारण सोम शब्द होम अथवा होमा हो जाता है। जिन्द आवेस्ता के अन्तर्गत होमा याशत का 26वाँ मन्त्र दृष्टव्य है।²⁸

“फ्रा ते माजदाओ वारात पाउरवानिम अईया ओतधा नेम स्तेहेरपाससानधेम माइन्यू-तास्तेम वानघूहिम दीनाम- माजायासनिम” विद्वानों के अनुसार पाउरवानिम

कृतिका का संबोधक शब्द है और पारू, पारवाह जो पूर्वजों के पवित्र वर्ष हैं, इसके देवता परबीन और परवीज हैं। इस मन्त्र में आईयाओतधानेम शब्द का लोगों ने कटिबन्ध, बेल्ट और मेखला सूचक अर्थ लगाया है, परन्तु यह जेन्द शब्द पारसीजनों की ‘कुशती’ या पवित्र सूत्र का प्रतीक है। यह कटिबंध मृगशिरा का कटिबंध है, क्योंकि मृगशिरा-प्रजापति है, वैदिक यज्ञ है।

वास्तव में यह कटिबंध पुराकाल में ऊन अथवा कपास निर्मित गोल किए हुए कपड़े से बनता था और यही यज्ञोपवीत यज्ञ के समय धारण किया जाता था।

विद्वानों ने यज्ञोपवीत शब्द को यज्ञ और उपवीत द्वारा निर्मित माना है जो यज्ञों में धारण किया जाता था। वास्तव में यज्ञोपवीत धारण करने के पूर्व जो मन्त्र उच्चारित किया जाता है, ब्राह्मोपनिषद का वह मन्त्र निम्नवत है

‘यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम् प्रजापतेर्यत्यहजं पुरस्तात्।’ इस मन्त्र और होमायाशत के मन्त्र में अद्भुत साम्य है, क्योंकि इस मन्त्र में कहा गया है कि यह मन्त्र परम पवित्र है और प्रजापति द्वारा पुराकाल में प्रचलित किया गया था। यहाँ पर पुरस्तात् होमा याशत का पाउरवानिम है और मैन्यू-तास्तेम, प्रजापति के बाहों पर, के अर्थ में लिया जा सकता है।

उपवीत शब्द में वी शब्द से बुनने की निष्पत्ति हुई है। इस कारण प्रतीत होता है कि पुराकाल में बुना हुआ कपड़ा अजिनचर्म अथवा ऊन, न कि धागा कटि प्रदेश में धारण किया जाता था। यह तथ्य पुनः अग्रहायण के कटिबंध की स्मृति है। कभी-कभी इस वस्त्र के स्थान पर कटि प्रदेश में मृगचर्म को लपेट लेने की प्रथा थी।

ब्राह्मणों में यज्ञोपवीत को कंधे पर धारण करने की प्रथा के पूर्व वे भी यज्ञादि पुण्य कर्मों के सम्पादन के समय इस यज्ञोपवीत को कटि प्रदेश में ही धारण करते थे।¹² यज्ञोपवीत की पवित्रता का प्रारम्भ प्रजापति की कटिबंध की अवधारणा (मृगशिरा का कटिबंध) से प्रचलित हुई। तैत्तरीय संहिता में निविता, प्राचीनविता और उपवित, शब्द यज्ञोपवीत तथा ब्राह्मण के शरीर पर यज्ञोपवीत की स्थिति के द्योतक हैं।²⁹

यज्ञोपवीत संस्कार आज भी मृगशिरा नक्षत्र की स्मृति को सुरक्षित रखे हुए है। इस संस्कार में प्रत्येक वटु को कटि प्रदेश में कुश घास की मेखला धारण करनी पड़ती है, जिसमें लगाई गई तीन ग्रन्थियाँ मृगशिरा नक्षत्र के तीन कटिबंधीय नक्षत्र-तारे हैं। इस ग्रन्थि बंधन के समय उच्चारित मन्त्र में इनको सोम की ग्रन्थियाँ कहा जाता है।³⁰ यह परम्परा पारसीक जनों की होम-याशात-परम्परा के ही समान है, क्योंकि मृगशिरा नक्षत्र का देव-सोम है।

यज्ञोपवीत संस्कार में वटु के हाथ का अंजीर अथवा पलाश दण्ड, मृगशिरा नक्षत्र में बिम्बित असि का स्वरूप है। इस प्रकार मेखला, अजिन चर्म-मृगचर्म और दण्ड प्रजापति मृगशिरा नक्षत्र के प्रतिबिम्ब हैं, जो प्राचीन पारसीक समुदाय और भारतीय द्विजों में उभयनिष्ठ हैं।

ऋग्वेद में कृतिका नक्षत्र मंडल की चर्चा नहीं है तथा विद्वानों का विचार है कि तैत्तरीय संहिता काल (2500 ई. पू.) में आते-आते ये ऋग्वैदिक मन्त्र रूढ़ हो गए थे।¹²

ऋग्वेद के कुछ मन्त्र अति प्राचीन हैं, जिनके विषय में ऋषि का कथन है कि यह 'पुरुष' से प्राप्त हुए थे। दूसरे शब्दों में अनादि है³¹ तथा मृगशिरा नक्षत्र-अग्रहायण में बसंत निपातकाल के उपरान्त ही मध्य एशिया स्थित मुख्य आर्य शाखाओं में विभाजन के फलस्वरूप-यूनानी-यूरोपीय, ईरानी और सर्वोपरि भारतीय आर्यों ने अपने-अपने देशों में इस नक्षत्र से जुड़े मिथकों की स्मृति को सुरक्षित रखा।

सन्दर्भ सूची

1. ऋग्वेद, 10, 85, 13 तथा अपत्ये तायवो यथा नक्षत्रा यंत्यक्तभि। सूराय वियव चक्ष से। ऋ 1, 50, 2
2. ऋग्वेद, 1, 164; 2, 48
3. ऋग्वेद, 1, 24, 8
4. ऋग्वेद, 5, 85, 1
5. ऋग्वेद, 1, 164, 2
6. ऋग्वेद, 5, 40
7. ऋग्वेद, 3, 32, 2
8. तैत्तरीय ब्राह्मण 3, 1.1., तिलक, बालगंगाधर, आर्कटिक होम इन द वेदाज, विजय गोयल, नवीव शाहदरा, दिल्ली-12, 2010, पृ. 10
9. ऋग्वेद, 10, 123, एवं तिलक, बाल गंगाधर, ओरिआन, पृ. 20
10. यास्क, निरुक्ति, 10, 38
11. जॉन, टी. एन. एवं हाइट, डी.डी.,आक्सन, लैटिन-इंग्लिश डिक्शनरी.
12. तिलक, बाल गंगाधर; ओरीआन, विजय गोयल, हिन्दी-इंग्लिश पब्लिशर, एस्-16, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32, 2010. पृ. 10-11, 21, 36, 76, 102, 78, 85, 79, 81, 115, 118।
दास, अविनाश चन्द्र, ऋग्वैदिक इंडिया, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, 1929
13. ऋग्वेद, 4, 33-30, 1, 20, 110, 111-161
14. ऋग्वेद, 4, 33, 4
15. ऋग्वेद, 4, 33, 7
15. ऋग्वेद, 4, 34, 2
16. वेटनी ह्यूगस, अरकाइम, दे क्रेडिल आफ आर्यन सिविलाइजेशन, इंटरनेट से प्राप्त सूचना।
17. उपाध्याय राजीव रंजन, विश्वात्मा सर्वशैलोत्तमोत्तम-मेरु, चिन्तन सृजन, वर्ष-4, अंक-4, अप्रैल-जून, 2009, पृ. 85

वर्मा ठाकुर प्रसाद, वर्ष, वैदिकजनों का यूरोप एवं पश्चिमी एशिया में विसंक्रमण, इतिहास दर्पण, 14 (2), 2009, पृ. 25-42

कुजमीना, ई.ई. हार्स, चैरियट्स एण्ड द इन्डो-ईरानियनस : इन आर्कियोलॉजिकल स्पार्क इन द हिस्टोरिकल डार्क, इन : ए पारपोला एण्ड पी. कोस्की कालिओ (एडिट) साउथ एशियन आर्कियोलॉजी 1993, हेलसिंकी 1994 वॉल्यूम 1. 403-412

जेडानोविच, डी.जी. आरकाइम : आरी ना यूराले, फान्तास्नेका इ. नाउका 25, 1992 बी, 156-271 (1992)

विटजेल एम, : द होम आफ द आर्यन्स, आनसानताई, एफएस, जोहान नारटैन, जूम 70 गेवुसताग एडी. ए. हिन्टज एण्ड ई. टीची, डेल्टेवाख, जे. एच. रिओल, 2000 283- 338 इंटरनेट पर उपलब्ध।

वैसीलिव, आई. वी., कुजनीत्सोव, पी. एफ.; सेमीनोवा, ए. पी.; पोपाटोवास्की कुगेनीमोगी लिंक इन्डोईटानिस्कीरव प्लीमेन ना वोल्गे सामारा, इज्दाटेल्लसवो सामारास्की यूनीवर्सिटी 1994

- 18.अ. सारीअनीडी, विक्टर, मारगुश-तुर्कमानिस्तान-एनिशएन्ट ओरियन्टल किंगडम इन द ओल्ड डेल्टा ऑफ द मुरगाव रिवर; अशगावत, तुर्कमेरनडोवलेथावारलारी, वेनाटजकी ड्यूक एण्ड मीडेन, जीयमबीएच हनोवर, 2002
द्विवेदी, सुनीता : एनिशएन्ट मेर्व: द क्वीन ऑफ द वर्ल्ड एण्ड इट्स लिंक विद इंडिया, डायलॉग, 13 (1), जुलाई-सितम्बर, 2011, पृ. 158
19. सुषष्वांस ऋभवस्तदपृच्छतागोहृच क इदं नो अबूबुधत। श्वानं वस्तो बोधियितारमब्रवीस्तंत्सर इदमाद्या व्यख्यत।
ऋग्वेद, 1, 161, 13
20. ऋग्वेद, 10, 18, 1; 10, 98, 11, ऋग्वेद, 10, 72, 7
ऋग्वेद, 10, 113, 8
21. ऋग्वेद, 1, 13, 6, एवं 2, 3, 5
22. ऋग्वेद, 10, 63, 10.
23. ऋग्वेद, 10, 14, 11, एवं आवेस्ता, वेन्दीदाद, 3, 16
24. शतपथ ब्राह्मण, 2, 1, 2, 3, 5.
25. ऋग्वेद, 4, 32, 2 एवं 8, 93, 14
26. डॉ. अग्रवाल, वासुदेव शरण, पणिनि कालीन भारतवर्ष, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी-1, 1968, पृ. 174.
27. डॉ. विलियम, स्मिथ, स्माल क्लासिकल डिक्शनरी एवं ओरीआन, पृ. 100
28. डॉ. राजेन्द्र लाल मित्र, इन्डोआर्यन्स एवं जेम्स दारमेरत्रेतर : द जिन्द आवेस्ता होम याशत, तथा एल. एच. मिल्स; सैक्रेड बुक्स आफ ईस्ट, अमेरिकन संस्करण 1898, सैक्रेड, लिटुर्गी एण्ड गाथाज- हाइमस आफ जरश्रोस्ट - आवेस्ता यासना।
29. तैत्तरीय संहिता 2, 5, 5, 1
30. वाजसेयनी संहिता 5, 10
31. ऋग्वेद, 10, 99, 9.

सम्पूर्ण क्रांतिलोकतंत्र और भ्रष्टाचार

नरेश कुमार अम्बष्ट*

मैं मगध विश्वविद्यालय में भ्रष्टाचार पर एक व्यक्तव्य देने गया। वहाँ के विद्वान प्रो. डॉ. आभा सिंह ने पूछा कि Corruption की परिभाषा क्या होगी? उस वक्त मुझे भारत के सन्दर्भ में Gunner Myrdel के द्वारा दी गई परिभाषा ही सही लगी जो उन्होंने अपने Asian Drama पुस्तक में दी Corruption is the Oil that keeps the machine of development going. भ्रष्टाचार वह तेल है जो विकास के Machine (कल पुर्जे) को चलाता है। क्या आप इसे नहीं मानते? Corruption न हो तो क्या ये सड़क झारखण्ड में बनेगी, ये रेल चलेगा, जिला के दफ्तर चलेंगे, मनरेगा का कार्यान्वयन होगा, ये पुलिस दिखाई देगी। जिस प्रकार All civilizations are rooted in violence उसी प्रकार All Governments are rooted in Corruption. कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है Corruption is to the state functionary what water is to the fish – मछली के लिए पानी जैसा है वैसा ही भ्रष्टाचार सरकारी अधिकारी के लिए है। इसलिए भ्रष्टाचार मिटाना है तो Civil Society esa State का Function कम कर दीजिए। यह सम्भव है Total Revolution एक Road Map है, Civil Society (नागरिक जीवन) को समृद्ध कैसे किया जा सकता है नागरिक जीवन को राज्य सत्ता से आगे कैसे रखा जा सकता है। किसी भी क्रान्ति का स्वरूप देश-काल और परिस्थिति के अनुसार ही निर्धारित होता है और इसी कारण भिन्न क्रान्तियों का स्वरूप भी भिन्न हुआ करता है। सम्पूर्ण क्रान्ति लोकनायक जयप्रकाश की समस्त चिन्तन धारा और संघर्षों का प्रतीक है। यह मार्क्स और गाँधी की त्रुटियों को दूर करके दोनों की अच्छाइयों को ग्रहण करने का प्रयास था। इसके सात आयाम हैं सामाजिक क्रान्ति, शैक्षणिक क्रान्ति, आर्थिक क्रान्ति, राजनैतिक क्रान्ति, सांस्कृतिक क्रान्ति, वैचारिक क्रान्ति और आध्यात्मिक क्रान्ति। यह जीवन के सभी क्षेत्रों में परिवर्तन की एक लम्बी प्रक्रिया है। जयप्रकाश के विचार साम्यवादी और समाजवादी दोनों ही

* प्रो. नरेश कुमार अम्बष्ट, प्रोफेसर, दर्शन शास्त्र सिदो कान्हू मुर्मू विश्वविद्यालय, दुमका, झारखंड

विचार धाराओं से भिन्न है। मार्क्स की हिंसात्मक पद्धति के स्थान पर गाँधी जी की अहिंसक पद्धति को ही उन्होंने अपनाया। मार्क्स की क्रान्ति में नैतिक मूल्यों का अभाव था, किन्तु जयप्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रान्ति का आधार ही नैतिकता है। मार्क्स की क्रान्ति मात्र आर्थिक ढाँचा बदलने के लिए की गयी थी, किन्तु जयप्रकाश नारायण 'मानव' को बदलने के लिए प्रयत्नशील रहे। आर्थिक संरचना के परिवर्तन मात्र से कोई सफल क्रान्ति नहीं हो सकती, जब तक कि मानव में परिवर्तन न हो। जयप्रकाश की सतत क्रान्ति में रूढ़िवादिता को तोड़ने और समाज में नये मूल्यों के निर्माण की प्रक्रिया साथ-साथ चलती है। यह समाजवादी विचार धारा से भी भिन्न है, क्योंकि समाजवादी विचारधारा में राजसत्ता के उपयोग द्वारा समाज परिवर्तन की बात कही जाती है, यहाँ जनशक्ति की परिवर्तनकारी भूमिका का अभाव रहता है, जबकि सम्पूर्ण क्रान्ति में जनशक्ति की ही मुख्य भूमिका रहती है और राजसत्ता सहयोगी की भूमिका में रहती है।

स्वतंत्रता, समता और मानवता के मूल्यों पर आधारित लोकतांत्रिक समाज की रचना हेतु शांतिमय संघर्ष द्वारा सभी आयामों में परिवर्तन ही सम्पूर्ण क्रान्ति की अंतर्वस्तु है। जयप्रकाश जी साधन-साध्य की महत्ता को स्वीकारते थे। उनका मानना था कि अच्छे साध्य के लिए साधन भी अच्छी होना चाहिए और इसी कारण उन्होंने अपनी क्रान्ति के अहिंसक स्वरूप को बनाए रखा। उनके अनुसार गलत साधनों के आधार पर क्षणिक सफलता राष्ट्र को निचे गिराएगी और उसे रक्तपात और सर्वनाश के अनन्तगर्त में ढकेल देगी। अहिंसक प्रक्रिया में परिवर्तन, नव निर्माण और विकेन्द्रीकरण तीनों एक साथ रहते हैं। जयप्रकाश नारायण के अनुसार सम्पूर्ण क्रान्ति गाँवों में आरम्भ होनी चाहिए। नगर एवं गाँवों में आर्थिक उदारता होनी चाहिए। यही सर्वोदय समाज की स्थापना में सहयोग करेगा। सर्वोदय का उद्देश्य है व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं में आमूल परिवर्तन लाकर सम्पूर्ण और सर्वांगीण विकास करना। भारतीय संसद एवं विधान सभा के सदस्य दिखावटी और स्वार्थी पाये जाते हैं, कोई लोगों की भलाई के लिए नहीं सोचता। सिर्फ डर के कारण ही संसद कुछ काम करती है। भारतीय संसद एवं विधानसभा महज प्रजा का खिलौना है और वह खिलौना प्रजा को कष्ट एवं भारी खर्च में डालता है। प्रधानमंत्री को अपने दल की जीत की लगन होती है। संसद सही काम कैसे करे, इसका वह बहुत कम विचार करता है। आज के चुने हुए नेताओं में शुद्ध भावना और ईमानदारी नहीं होती। गाँधी जी ने आधुनिक संसदीय प्रणाली की कटु आलोचना की हैं इस आलोचना का महत्त्व समकालीन भारतीय सन्दर्भ में बहुत बढ़ गया है। बिहार राज्य के वैशाली में दुनिया का पहला गण-राज्य पनपा था और उसी राज्य में भारतीय इतिहास का पहला साम्राज्य-मगध भी विकसित हुआ था। जिस बिहार में ये दोनों पद्धतियाँ पैदा हुईं और

विकसित हुई वह बिहार संसदीय प्रणाली के कारण अपनी दशा, दिशा और तासीर भूलकर बदहाली के कगार पर खड़ा एक गाँधी या जयप्रकाश का इन्तजार कर रहा है। लोकतंत्र के नाम पर जिस तरह की राजनीति यहाँ विकसित हुई वह सबसे पहले स्वयं राजनैतिक दलों को खा गयी, प्रशासन को खा गयी और अब समाज को खाने पर उतारू है।

भगवान बुद्ध ने जिस लोकतंत्र का सूत्र दिया वह आज के लोकतन्त्र से भिन्न था। उसका सूत्र था : मिलो, संवाद करो और उस समय तक करते रहो जबतक सम्मति न बन जाए। इस सूत्र में जोर संवाद और सहमति पर था, न कि विवाद और विरोध पर। हमने भगवान बुद्ध की दी हुई दिशा नहीं पकड़ी। गाँधी के अनुसार हर गाँव एक समुदाय है। अपने खेतों में जरूरी कच्चा माल पैदा करे जिनसे जीवन की बुनियादी आवश्यकताएँ पूरी हो। उत्पादक का पेट काटकर बाजार का पेट भरने की कोशिश न की जाए। जो हमारी जरूरत से बच जाए वही बाजार में जाए। वे ग्राम स्वराज की बात करते थे। मेरा मानना है कि विगत दो दशक के दौरान भारत की दशा बहुतायत जनता की दशा एक रंक (कंगाल) जैसी हो गयी है। आज भारत पूँजीवाद से नहीं बल्कि आजकल व्याप्त भ्रष्टाचार से कुचला जा रहा है, उसकी चपेट में वह फँस गया है। उसमें से बचने का अभी भी उपाय है, लेकिन दिन-ब-दिन समय बीतता जा रहा है। हमें Paradigm Shift की जरूरत है आर्थिक बाजारवाद यानी Mass production by Capitalist के बदले Mass Production by masses हो जाए। 'इंडिया' की ताकत, समृद्धि और कौशल तो सबको दिख रहा है, और खुले आम स्वीकारा जा रहा है, लेकिन कंगाली और अज्ञान नजर नहीं आता। भारतीय व्यक्ति अपनी आमदनी और सामर्थ्य का, दूसरे समाजों एवं संस्कृतियों के व्यक्तियों की तुलना में काफी बड़ा भाग अपने ऊपर खर्च करने के बदले या तो दूसरों के उपर खर्च करता है या भविष्य एवं बाद की पीढ़ी के लिए बचा कर रखता है। जबकि पूँजीवादी मनोवृत्ति व्यक्ति केंद्रित थे जो काफी दुःखदायी है। इसलिए हमारे ग्राम स्वराज आवश्यक हैं। Mass Production of Masses ही एक मात्र उपाय है। भारत की व्यापक गरीबी का बहुत बड़ा कारण आर्थिक क्षेत्र से स्वदेशी की भावना का तिरोभाव भी है। यदि विदेशी वस्तुओं का आयात इस देश में न होता, तो यहाँ खुशहाली रहती। गाँधी जी ने खद्दर का व्रत लेने को कहा था यानी स्वयं सूत कातें और हाथ कते सूत का ही कपड़ा पहने। महात्मा गाँधी जी के आश्रम में गये हुए एक पाश्चात्य लेखक ने लिखा है : "जब हमने उस स्थान के सम्पूर्ण वातावरण और निश्चित आदर्शों अपने काम के प्रति लोगों के स्वभाविक रुचि और उत्साह, सुखी, संतुष्ट परिवार, बच्चों को प्राप्त शिक्षण, 'कल' की चिंता का अभावपर विचार किया, तो हमें इस बात बड़ा क्लेश हुआ कि हमें इतनी जल्दी यहाँ से चले जाना होगा। अपने वयस्त जीवन में हमने

इसके पूर्व इन शब्दों कीश्रम ही भगवान की पूजा हैयथार्थता का कभी अनुभव नहीं किया था।" जयप्रकाश जी लिखते हैंयहाँ यह तर्क उपस्थित करना मेरा उद्देश्य नहीं है कि स्वदेशी और खद्दर ही ऐसी विचार पद्धति, जो उचित और एकमात्र संभव आधार है। लेकिन क्या आप यह नहीं अनुभव कर रहे हैं कि यह भी आर्थिक सिद्धांत है, जो बहुत माने में जड़वादी अर्थनीति के सर्वथा विपरीत है। मेरा आग्रह विद्वानों, अर्थनीति के अध्येताओं और साथ ही राजनयिकों से यह है कि वे महात्मा जी की अर्थनीतिविषयक मान्यताओं पर उसी भाँति विचार करें, जिस भाँति उन्होंने भौतिकवादी अर्थनीति पर विचार किया है।

भारत मुख्य रूप से किसान आबादी वाला कृषिप्रधान देश है और इसकी इस तथ्य से पुष्टि होती है कि भारत में केवल 33 प्रतिशत लोग शहरों में रहते हैं। मेरा मानना है कि किसानों का लगभग 50 प्रतिशत के पास कोई भी सम्पत्ति नहीं है और जो मुख्यतः या काफी हद तक अपने श्रम को बेचकर जीवित रहते हैं, 30 प्रतिशत अंश मध्यवर्ती किसानों का है, जो कितनी ही कम आमदनी के बावजूद अपनी ही जमीन पर काम करके रहते-बसते हैं और 20 प्रतिशत किसान अपनी जिन्दगी इज्जत के साथ गुजार रहे हैं। भारतीय राजनेता, बुर्जुआ नवधनिक, बेलगाम अफसरशाह अपने विलास तथा फिजूलखर्ची के लिए विख्यात हैं। विगत दो दशकों में करोड़ों स्थायी रूप से भुखमरी के कगार पर हैं, अवर्णनीय गरीबी अज्ञान तथा दरिद्रता की दशाओं में रह रहे हैं।

भारत में पूँजीवाद विकसित हो रहा है। गरीब तथा अमीर के बीच वर्ग-विरोध स्पष्टतः दिखायी देने लगा है। छोटे पैमाने की सम्पत्ति वाले खंडित होकर एक तरफ बुर्जुआ वर्ग में और दूसरी तरफ सर्व-हारा सम्पत्तिहीन वर्ग में तब्दील हो गए। भारत में पूँजीवाद काफी बड़े कदम रख चुके हैं, क्योंकि विदेशी पूँजी औद्योगिक विकास में काफी बड़ी भूमिका अदा कर रही है। कृषि की आत्मनिर्भरता की प्रकृति अतीत में विलीन होती जा रही है। कृषि उत्पाद का बड़ा अंश शहर तथा निर्यात में चला जाता है तथा कृषक समाज भूखा, नंगा, असहाय रह जाता है। महँगाई आसमान छू रही है। समाज का एक वर्ग टुकुर-टुकुर कर आसमान देख रहा है। भारतीय अर्थव्यवस्था ने 45 वर्ष की तुलना में विगत दो दशकों के दौरान बहुत लम्बी छलाँग लगाई है। आर्थिक विकास की यदि सूक्ष्म निरीक्षण किया जाय तो स्पष्टतः यह दिखाई देता है कि यहाँ बड़े पैमाने पर उद्योग राजकीय संरक्षण से विकसित हो रहे थे। यह केवल सीमा का प्रश्न नहीं है सिद्धांत का प्रश्न है। माननीय मनमोहन सिंह जी ने भारत के पिछड़ेपन को शीघ्रताशीघ्र दूर करने के लिए आर्थिक उदारवाद तथा बाजारवाद का सहारा लिया। उन्होंने कई महत्वपूर्ण उसूलों को अपनाया और विकसित किया। निजी स्वामित्व की स्वतंत्रता और प्रत्याभूति, प्रतियोगिता की हित-कारी भूमिका, श्रम के विभाजन और

बहुशाखी अर्थव्यवस्था के निर्माण की आवश्यकता और लाभ, भोग-विलास की वस्तुओं का उत्पादन, ज्यादा से ज्यादा प्राकृतिक सम्पदा का विकास के नाम पर उपयोग और पूँजी संचय पर जोर।

हमें यथार्थवादी एवं व्यवहारवादी होने की आवश्यकता है अन्यथा भारत गरीबी, हिंसा, बेरोजगारी, बीमारी में फँसकर रह जाएगा। मेरा यह मानना है राजकीय हस्तक्षेप तथा विदेश औद्योगिक मालों के आयात पर चौकसी (प्रतिबंधों) के बिना भारत का सम्पूर्ण विकास असम्भव है। भोग-विलास की वस्तुओं पर जिसका भारतीय आयातों में बड़ा हिस्सा होता है, ऊँचा टैरिफ लगाने की आवश्यकता है। इसके बिना कृषक समाज एवं गाँव का समाज विकसित नहीं हो सकता एवं भारत कभी भी समृद्ध नहीं हो सकता। मैं जानता हूँ कि मेरे इस विचार को भ्रष्टाचार विरोधी अभियान के लोग पसंद नहीं करेंगे। हालाँकि अधिकांश आबादी अधभूखी रहती है और समय-समय पर भुखमरी का शिकार होती है। फिर भी भारत अनाज निर्यातक बना हुआ है। सांस्कृतिक स्तर पर भी भारत काफी नीचे है। 30 प्रतिशत आवादी निरक्षर है, बहुतायत के लिए शिक्षा का लुंज-पुंज आधार सरकारी स्कूल है, जबकि अमीरों के लिए शिक्षा की एक अलग व्यवस्था है।

पिछले 16 वर्षों में दो लाख छप्पन हजार नौ सौ तेरह (2,56,913) किसानों ने आत्म हत्या की है। यह वही दौर है जब नवउदारवादी नीतियाँ अपने उत्थान पर रही हैं। तीस नवम्बर 2011 को कृषि खाद्य प्रसंस्करण एवं संसदीय कार्य राज्यमंत्री हरीश रावत ने यह कहा कि “किसान परिवारों की कर्ज सम्बन्धी राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (N.S.S.O.) की 59 वीं रिपोर्ट के मुताबिक देश के 8.93 करोड़ किसान परिवारों में 4.34 करोड़ किसान परिवारों यानी 48.6 प्रतिशत के किसी न किसी रूप में कर्जग्रस्त होने की सूचना है।

इस परिघटना को देश के तत्कालीन आर्थिक ढाँचे के सम्दर्भ में इस तरह विश्लेषित किया जा सकता हैआजादी के बाद कृषि क्षेत्र को जितना बल मिलना था मिल नहीं पाया, हम मुश्किल से देश में एक तिहाई फसली क्षेत्र को ही सिंचित व्यवस्था दे सके। ऐसे में जब 1991 के संकट के दौरान नवउदारवादी नीतियों के तरह खेती में पूँजी निवेश घटाया गया, बैंकिंग सुधारों के नाम पर खेती के लिए संस्थागत कर्ज के स्रोत घट गए। खेती पर सब्सिडी कम किया गया नतीजा हुआ कि खेती की लागत बढ़ती गयी। 1995 में विश्व व्यापार संगठन की शर्तों के मुताबिक खेती में विदेशी व्यापार को बढ़ावा दिया गया, जहाँ एक ओर खेती की लागत बढ़ी, वहीं खेतिहर पैदावार के बाजार भाव में भारी गिरावट आयी। राज्य सत्ता ने खेती से अपने पैर खींचे तो उसकी जगह निजी महाजनों या सूद-खोरों ने अपनी जगह बनायी। इस तरह कमजोर किसान कर्ज के दुष्चक्र में फँसता चला गया।

पूँजीवादी समाज की आलोचना करने के लिए किसी का समाजवादी होना जरूरी नहीं, केवल इंसान होना काफी है। आत्महत्या पूँजीवादी समाज व्यवस्था की बीमारी है इसे पूँजीवाद की विकृति कहा जा सकता है। महात्मा गाँधी जी कहा करते थे कि किसी भी सच्ची, अच्छी और कल्याणकारी सभ्यता का आधार धर्म, नीति और मूल्य होते हैं तथा यंत्रों, तकनीकों एवं मशीनों का उपयोग मार्ग साधन के रूप में होता है जबकि आज के भारत का आधार मूल्य, नीति और धर्म के बदले आधुनिक तकनीक एवं पूँजी आधारित हो गया है। गाँधीजी का मानना है कि मनुष्य के जीवन आकांक्षा, सुख-दुःख, सफलता-असफलता, हानि-लाभ, प्रगति-पतन जैसे मूल विषयों को जब मूल्यों के स्थान पर तकनीक परिभाषित करने लगते हैं तब सभ्यता का असली संकट आता है। मेरा मानना है कि पूँजीवाद जब ध्येय बन जाता है तो असली बर्बादी शुरू होती है।

कविता के आयाम

कृपाशंकर सिंह तथा जगन सिंह*

प्रत्येक सृजनात्मक कृति से, चाहे वह लेखन हो या कोई और कलाकृति, चार आयाम जुड़े होते हैं। जो चार आयाम हैं, उनमें पहला है कृतिकार का पक्ष। अर्थात् कृतिकार या लेखक अपनी रचना को किस तरह की बनाना चाहता है। रचना को लेकर उसकी अपनी परिकल्पना क्या है। अब यह दूसरी बात है कि रचना जब पूरी हो जाती है तो बहुत बार वह रचयिता की परिकल्पना से अलग दिखाई देती है। रचयिता ने जैसा सोचा होता है, बिलकुल उस तरह की नहीं बन पाती। इसका कारण यह है कि लेखक की लेखन के दौरान की पूरी सर्जक मानसिकता और क्रियात्मकता, उसकी सामान्य तौर पर जो मानसिकता या सोच है, उससे बहुत बार भिन्न हो जाया करती है। कवि या लेखक या फिर कोई भी सर्जक कलाकार अपनी रचना की उँगली पकड़कर चलने लग जाता है इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि रच ली जाने के बाद कलाकृति अपने रचयिता के प्रभाव से मुक्त हो जाती है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि कलाकृति अपने में स्वनिष्ठ और स्वायत्त होती है।

लेकिन चूँकि लेखक समाज का एक सदस्य होता है, इसलिए व्यक्ति को लेकर या समाज, धर्म, संस्कृति और तमाम तरह की परिस्थितियों को लेकर उसकी अपनी मान्यताएँ बनी हुई होती हैं। ये मान्यताएँ धीरे-धीरे रूढ़ हो जाती हैं। जब लेखक कुछ लिखता है तो उसकी मान्यताएँ लेखन में भी किसी न किसी तरह उतरती हैं। इसी वजह से विचारधाराओं के आधार पर कृतियों का वर्गीकरण किया जाता है। इसमें यह भी होता है कि किसी खास समय में कोई खास सामाजिक या राजनीतिक विचारधारा, राज्य व्यवस्था के असर या उसकी विरोधी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप, प्रचारित हो जाती है। तटस्थ कृतिकार भी उससे प्रभावित होता है और उसकी कृति उसी धारा की कृति बन जाती है। हिन्दी साहित्य के विकास में विभिन्न युगों की विशिष्टताएँ इसी का प्रतिफलन हैं। दूसरी ओर आधुनिक काल में विभिन्न प्रयोगों के पीछे विविध विचारों और हर क्षेत्र में विविधता का प्रचलित होना है।

सम्पर्क : डी-6 स्ट्राबेरी हिल, शिमला-171002; मो. 09805676883

यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि लेखन के दौरान लेखक अपनी मान्यताओं या अपनी समकालीन विचारधारा से प्रभावित रहता है, और बहुत बार अपनी सोच और धारणा को लेखन के माध्यम से प्रच्छन्न रूप से दूसरों को प्रभावित करने की कामना रखता है।

यहाँ एक बात यह भी है कि जिन कविताओं को हम आत्मानुभूति की कविताएँ कहते हैं, या यों कह सकते हैं कि कविता में जो अनुभूत सत्य दिखाई देता है, वास्तव में वह भी पूरी तौर पर कवि की अनुभूति का चित्रांकन नहीं होता। कविता हो या उपन्यास, कहानी हो अथवा नाटक सभी के अन्तराल में कवि की अनुभूति की बारीकियाँ होती हैं सही, पर अपनी प्रस्तुति में उससे एक तरह की नाटकीयता आ जाती है। अनुभूति का बिन्दु ज्यादा विस्फारित होकर प्रकट होता है। उस पर कल्पना या सोच का मुलम्मा चढ़ा हो सकता है। या उससे मिलती-जुलती दूसरे लोगों की पढ़ी-सुनी अनुभूतियों के चिह्न उसमें घुस आ सकते हैं, जो अन्ततः कवि या लेखक की अनुभूति के हिस्से के रूप में प्रकट होते हैं। इसे बहुत से उदाहरणों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। पर यहाँ केवल एक उदाहरण प्रस्तुत है जयशंकर प्रसाद के काव्य 'आँसू' से। 'आँसू' रचना की पृष्ठभूमि के रूप में प्रसाद जी की इन पंक्तियों को लिया जा सकता है 'जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति सी छाई/दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आई।' 'आँसू' के पहले संस्करण और दूसरे संस्करण को अगर आप देखें तो यह सहज ही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जहाँ पहले संस्करण में कवि का आलम्बन हाड़-मांस का ही प्रिय है, वहीं दूसरे संस्करण में वह आलम्बन हाड़-मांस की जगह कोई अव्यक्त, अलौकिक प्रिय बन जाता है। मतलब यह कि जयशंकर प्रसाद कविता की सर्जनात्मकता की माँग की वजह से, या सर्वग्राह्य बनाने की वजह से या अन्य बाहरी दबावों की वजह से पूरी कविता की भावभूमि को ही परिवर्तित कर देते हैं। परिणामस्वरूप कविता की अवधारणात्मक रूपरेखा बिलकुल बदल जाती है।

सर्जनात्मक कृति से जुड़ा दूसरा आयाम पाठक और दर्शक का है। पाठक और दर्शक वह प्राणी है जो कलाकृति का मुख्य भोक्ता है। लेखक-कलाकार के बाद पाठक और दर्शक ही सबसे पहले उसे पढ़ता और देखता है। पढ़ और देखकर उसे सराहता है, और सबसे ऊपर लेकिन अनायास अपनी जिन्दगी के अनुभवों से उसे जोड़ता है।

किसी कृति को पढ़ते हुए पाठक उसे दो तरह से महसूस कर सकता है। अधिकतर पाठक रचना की भावधारा के साथ बँधकर उसी भावभूमि पर उतर आते हैं और वैसा ही महसूस करते चलते हैं, जैसी भावभंगिमा रचना की होती है। कवि का सुख-दुख पाठक का भी सुख-दुख बन जाता है। इसमें यह भी होता है कि यदि कविता किसी सामाजिक उद्वेलन, जैसे फ़ैज की मशहूर नज़्म है 'अगस्त 1947' (पाकिस्तान बनने पर) या ऐतिहासिक काल खंड, जैसे कि जयशंकर प्रसाद की प्रसिद्ध रचना 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' है को चित्रित कर रही है तो भी सामान्यतया पाठक कविता की

भावधारा (या विचारधारा) के साथ ही अपने को पता है, बशर्ते पाठक इस तरह की कविताओं को पढ़ते हुए किसी पूर्वग्रह से ग्रस्त न हो।

किसी कविता को पढ़ते हुए पाठक दूसरी तरह से भी महसूस कर सकता है। यह महसूस करना प्रतिक्रिया की तरह का होता है। किसी भावभूमि या विचारप्रणाली से सम्बन्धित कविता को पढ़ते हुए पाठक में भिन्न मानसिकता भी पैदा हो सकती है, जो कि कविता के उद्देश्य, कथ्य या विचार प्रणाली के विपरीत पड़ती हो। फैंज की 'अगस्त 1947' (पाकिस्तान बनने पर) जो नज्म है, उसकी सारी खूबसूरती और काव्यात्मकता उस आदमी के लिए बेगानी है जिसके मन में पाकिस्तान बनने या बनाने का सपना रहा हो और विभाजन की तमाम खराबियाँ, विद्रूपताएँ और विसंगतियाँ जो उससे जुड़कर आ गई हैं, वह उन्हें नजरअन्दाज कर देना चाहता हो। अर्थात् पाठक जब किसी विरोधी भावना से ग्रस्त होता है तो सामाजिक उतार-चढ़ाव या किसी विचारधारा या ऐतिहासिक परिदृश्य पर आधारित कविताएँ उसे उस तरह से अपने साथ लेकर नहीं चल पातीं जैसी कि एक तटस्थ पाठक को अपने साथ लेकर चलती हैं। इसमें कविता का कोई दोष नहीं है, या इसमें कविता की सामर्थ्य को लेकर कोई प्रश्नचिह्न उठाना उचित नहीं है। इसमें पाठक के पूर्वग्रहग्रस्त होने की बात है। संस्कृत काव्यशास्त्र में एक शब्द है सहृदय। यह शब्द उनके लिए है जो काव्य को पढ़ने और समझने के योग्य समझे जाते हैं। इससे यह समझा जा सकता है कि संस्कृत काव्य शास्त्र-वेत्ताओं ने इस बात पर गौर किया था कि समाज का हर व्यक्ति काव्य को सराहने योग्य नहीं होता। कविता के पाठक के साथ इस तरह की शर्त को उन्होंने जोड़ा। जाहिर है कि किसी पूर्वग्रह से ग्रस्त पाठक सहृदय नहीं कहला सकता।

लेकिन यह स्थिति सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक परिदृश्यों को लेकर लिखी कविताओं पर ही लागू होती है; जो व्यक्तिगत सुख-दुख और अनुभूतियों की श्रेष्ठ कविताएँ हैं, उनको पढ़ते हुए पाठक उन सुख-दुख और अनुभूतियों के साथ तो एकाकार होता ही है। जैसे कि प्रेम सम्बन्धी कविता को पढ़ते हुए उसकी अनुभूति के साथ पाठक एकाकार होता है, भले ही उसने कभी किसी से प्रेम न किया हो। प्रसाद के 'आँसू' की दो पंक्तियाँ हैं 'मधुराका मुस्काती थी पहले देखा जब तुमको/परिचित से जाने कब के तुम लगे उसी क्षण हमको।' इन पंक्तियों को पढ़कर वह पाठक भी इसकी अनुभूति को महसूस करेगा जिसके साथ ऐसी कोई घटना नहीं घटी है। यह जरूर है कि उसके महसूसने में वह तीव्रता नहीं होगी जैसी तीव्रता उस पाठक के महसूस करने में होगी जिसने कभी प्रथम दृष्टि में प्रेम का अनुभव किया हो। मोमिन की एक मशहूर नज्म है 'वो जो हममें-तुममें करार था, तुम्हें याद हो कि न याद हो।' इस नज्म से पैदा होने वाला असर उस पाठक में अधिक गहरा होगा जो इस तरह की अनुभूति और परिस्थिति से कभी गुजर चुका हो। दूसरे सभी पाठकों में भी इसके असर की तीव्रता होगी। पर दोनों तरह के प्रभावों में गुणात्मक अन्तर हो सकता है।

कलाकृति से जुड़ा तीसरा आयाम स्वयं कृति ही है। कृति इसलिए क्योंकि रचना, जैसा कि अभी कहा गया है, पूर्ण हो जाने के बाद अपने रचयिता से अलग और स्वतंत्र हो जाती है। उसके गुण-अवगुण उसकी अच्छाइयाँ और कमियाँ उसी में निहित रहती हैं। उनकी पहचान के लिए किसी बाहरी सिद्धान्त या नुस्खे की मदद की आवश्यकता नहीं होती। दूसरी बात यह है कि किसी रचना को पाठक किस तरह समझे या किस तरह उसे ग्रहण करे, इसका कोई सर्वमान्य नियम नहीं होता। हर पाठक अपनी मानसिकता, अपने कला-संस्कार और अभिरुचि के अनुपात में ही कृति को हृदयंगम करता है। इसीलिए कृति भिन्न-भिन्न पाठकों में विभिन्न प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है, जिनका बहुत बार आपस में एक दूसरे से कोई मेल नहीं होता। वैसे कोई पाठक किसी कविता को अपनी मनःस्थिति के अनुसार ही ग्रहण करता है, यह बात उत्कृष्ट कोटि की रचनाओं के काफी बड़े भाग के बारे में सही कही जा सकती है। पर अच्छी कविताओं का एक हिस्सा ऐसा भी है जिसका अर्थ लगभग एक ही तरह से ग्रहण किया जा सकता है, जैसे मीर का एक शेर : 'किस किस अदा से रेखते मैंने कहे वले/समझा न कोई मेरी जबों इस दयार में।' अब इस शेर के आशय को समझने के लिए भिन्न-भिन्न पाठकों की अपनी-अपनी मानसिकता और रुझान की अलग-अलग भूमिकाएँ नहीं हो सकतीं, जिनका दबाव शेर पर पड़े। क्योंकि अर्थ के विभिन्न आयाम नहीं हैं। अर्थ में निश्चितता मीर के ही इस शेर में दिखाई नहीं देगी 'मीर के दीन-ओ मजहब को, अब पूछते क्या हो। उनने तो कश्क : खेंचा, दैर में बैठा, कब का तर्क इस्लाम किया।'

इस शेर में अर्थ के दूसरे आयाम भी जुड़ते हैं, जिससे इसकी आर्थी सम्भाव्यता बढ़ती है।

कविता के विश्लेषण से जुड़ा एक बहुत महत्वपूर्ण मुद्दा यह है कि कोई कविता मानक भाषा से किस तरह का तालमेल बिठाए हुए है। मानक भाषा की जो संरचना है, जिस तरह के शब्दों का उसमें व्यवहार होता है, या उच्चार के अन्तर्गत कोशगत और संरचनात्मक शब्दों का जो आपसी सम्बन्ध या अन्विति है, देखना यह होना चाहिए कि कविता में व्यवहार किए जाने पर उनमें किस तरह का परिवर्तन आ गया है। कविता के शब्द भी आखिर मानक भाषा के ही शब्द होते हैं। 'संरचना' भी मानक भाषा की संरचना के सन्दर्भ से जुड़ी होती है। हाँ, कविता में व्यवहृत शब्दों के आपसी सम्बन्धों की अपनी तार्किकता होती है जो मानक भाषा से भिन्न होती है।

वास्तव में मानक भाषा के शब्दों को सर्जनात्मक ढंग से रखना ही कविता का मूल धर्म है। शब्दों के सर्जनात्मक उपयोग में कई बातें आती हैं। जैसे एक शब्द है 'आसमान', जिसका मानक भाषा में एक विशेष अर्थ है। अब जब इसी 'आसमान' का गालिब ने प्रयोग किया तो उसमें एक और अवधारणात्मक आयाम जुड़ गया ऊँचे लोग, बड़े रुतबे वाले लोग। गालिब ने कहा 'हम कहाँ के दाना थे, किस हुनर में

यकता थे। वे सबब हुआ गालिब दुश्मन आसमाँ अपना।’

यहाँ आसमान की अवधारणा में जो एक नई अवधारणा का प्रवेश कराना है, यही आसमान शब्द का सर्जनात्मक इस्तेमाल है। लेकिन शब्दों के सर्जनात्मक उपयोगों में भी इस बात का ध्यान हमेशा रहना चाहिए कि किसी शब्द की जो वास्तविक या रूढ़ अवधारणा है उसका सन्दर्भ धुँधले रूप में बना रहे। ऐसा होने पर ही सर्जनात्मक तीव्रता पैदा होती है। दूसरा उदाहरण लेते हैं, फिराक का एक शेर है ‘तुम नहीं आए और रात रह गयी राह देखती/तारों की महफिलें भी आज आँखें बिछा के रह गयीं।’

मानक भाषा से इतर कविता में बिम्ब और प्रतीक का सहसम्बन्ध सामान्य रूप से जटिल और बहुलस्तरणीय होता है। कविता की अनेकार्थता इसी पर अवलम्बित रहती है। लेकिन हर उत्कृष्ट कोटि की कविता के लिए अर्थ संकुलता और जटिलता का होना आवश्यक नहीं है। उत्कृष्ट कोटि की ऐसी बहुत सी कविताएँ हैं जिन्हें अवधारणात्मक स्तर पर सीधी-सादी कहा जा सकता है। लेकिन सीधी-सादी का अर्थ सपाट होना नहीं है। कविता कभी भी सपाट नहीं होती। वह हमेशा ही बिम्बात्मक होती है। ‘सीधा’ शब्द से हमारा तात्पर्य है जटिल और संगृहीत अवधारणा से अलग। उदाहरण के लिए मीर का यह शेर देखिए ‘पढ़ते फिरेंगे गलियों में इन रेख्तों को लोग/मुद्दत रहेंगी याद यह बातें हमारियाँ।’

इस शेर में बिम्बात्मक जटिलता नहीं है। सब कुछ सीधा-सादा है, पर यह एक बहुत ही उम्दा और खूबसूरत शेर है। यहाँ पर यह सवाल उठता है कि शेर की इस खूबसूरती के पीछे का राज क्या है? उस राज की खोज में जब हम शेर के अन्दर झाँकते हैं, तो हमें यह मिलता है ‘यह बातें हमारियाँ’ अर्थात् यह जो हमारी बातें हैं, वह लोगों को मुद्दतों याद रहेंगी और ये बातें इतना विस्तार पाएँगी कि गली कूचों में बसी होंगी। लोग गली गली इन रेख्तों को पढ़ते घूमेंगे जिन रेख्तों में ये बातें समाई हुई हैं।

यहाँ फिर यह सवाल है कि वे बातें कौन-सी हैं? उन बातों में आखिर क्या छिपा हुआ है? क्योंकि जब मीर अपने रेख्तों के अमरत्व की बात करते हैं तो उनके मन में दो बातें हैं एक यह कि वे जानते हैं कि उनके रेखते बेमिसाल हैं, वे चिरस्थायी रहेंगे ही। दूसरी बात यह है कि उनको यह अहसास है कि प्रेम अमर है और इसलिए वे रेखते भी अमर ही रहेंगे जिनमें प्रेम समाया हुआ है। उनके रेखते मुद्दतों तक उनकी मुहब्बत को लोगों के दिलों में उतारते रहेंगे। इसी में उनका अगला शेर है ‘गुल ने हज़ार रंग, सुखन सट किया वले/दिल से गई न बातें तिरी प्यारी प्यारियाँ।’

प्रेम की अनुभूति की जैसी तीव्रता मीर की है, कुछ वैसी ही तीव्रता पाठक तक प्रसरणित होती है। शेर को पढ़ने वाला उसी अहसास में से गुजरता है, उसी अनुभूति-तीव्रता को महसूस करता है। इसलिए बहुल स्तरणी-बिम्बात्मकता के न होते हुए भी इन शेरों में उत्कृष्ट कोटि की काव्यात्मकता है।

इनके अलावा एक और बात भी कविता से जुड़ती है विश्लेषक का नजरिया।

जब हम किसी कविता को परखते हैं तो रचयिता का आयाम भी हमें देखना पड़ता है, पाठक के तौर पर भी हम परखते हैं। साथ ही विश्लेषण में एक और बात भी जुड़ी है, और वह है कविता के माहौल का सामान्य सामाजिक परिदृश्य, जिसे हम मूल्य के रूप में ले सकते हैं। उदाहरण के लिए प्रसाद की एक लम्बी कविता है ‘प्रलय की छाया’। इस कविता में कविता की आर्थी-संरचना जिस रूप में हमारे सामने है उसमें अनुस्यूत मूल्य को अगर हम अपने विश्लेषण में न लें तो कविता की तीव्रता ही समूल नष्ट हो जाती है।

सती प्रथा एक निन्दनीय प्रथा रही है, पर पद्मिनी का सती होना निन्दनीय नहीं माना गया है, वरन् आत्मगौरव की रक्षा के उपाय के रूप में लिया गया है। उससे जातीय उच्च स्वाभिमान की रक्षा भी होती है। कमला का आत्ममंथन इसी कारण है। एक ओर उसके मन में पद्मिनी के अलाउद्दीन खिलजी की पटरानी बनने की अपेक्षा आत्मदाह को चुनने का उच्च आदर्श है, तो दूसरी ओर अपने अद्भुत सौन्दर्य का दर्प है। उसे रह-रहकर यह भी आभास होता है ‘जीवन सौभाग्य है जीवन अलभ्य है?’ और ‘जीवन अनन्त है, ‘उसे छिन्न करने का किसे अधिकार है?’ पर इस आत्म-द्वन्द्व में दूसरे विचार भी आते हैं ‘हाय रे हृदय! तूने/कौड़ी के मोल बेचा जीवन का मणिकोण...’ फिर कमला सोचती है ‘रूप ने बनाया रानी मुझे गुजरात की, वही रूप आज मुझे प्रेरित था करता भारतेश्वरी का पद पाने को।’

जहाँ तक इस कविता में मूल्य का सवाल है, सती होना कितना भी निन्दनीय हो, पद्मिनी के सन्दर्भ में वह निन्दनीय नहीं है; क्योंकि पद्मिनी का सती होना पति के वीरगति को प्राप्त होने के कारण से उतना नहीं जुड़ा है, जितना अलाउद्दीन से अपने सतीत्व की रक्षा करने और अपने जातीय स्वाभिमान को बनाए रखने से जुड़ा है। इसीलिए पद्मिनी का सती होना आत्मघात नहीं है आत्मोत्सर्ग है। इसीलिए पद्मिनी का सती होना उच्च जातीय मूल्य का प्रतीक बन गया। पद्मिनी के सती होने को मूल्य के रूप में देखना उसके जातीय सन्दर्भ से जुड़ा हुआ है, सती प्रथा से जोड़कर उसे देखना उचित नहीं है। कमला के आत्ममंथन की तीव्रता भी इसी सन्दर्भ के परिप्रेक्ष्य में देखने पर महसूस होगी। उसकी अधोगति को भी इसी सन्दर्भ से जोड़कर हम देख सकते हैं।

जब हम मूल्य पर विचार करते हैं तो सबसे पहले हमारी दृष्टि नैतिक मूल्यों की ओर जाती है, क्योंकि मूल्य व्यक्ति और समाज सापेक्ष प्रतिमान हैं। व्यक्ति और समाज को परिभाषित करने के आयाम हैं। लेकिन कविता में नैतिक मूल्य कितने प्रासंगिक हैं? यह सवाल टेढ़ा और अनेक तरह की पेचीदगियों से भरा हुआ है। कविता की गुणात्मकता की परख करने में नैतिक मूल्य की कोई भूमिका नहीं होती, इसलिए नैतिक मूल्य का प्रतिमान वहाँ बेमानी है। अत्यन्त उच्चकोटि की कविताएँ नैतिक मूल्य

की कसौटी पर निकृष्टतम साबित हो सकती हैं, और नैतिक मूल्य से आपूरित कविता घटिया कविता का नमूना बन सकती है। कहने का मतलब यह है कि कविता का मूल्यांकन नैतिक मूल्य के आधार पर नहीं किया जा सकता।

लेकिन मूल्य केवल नैतिक नहीं होते। मूल्य के साथ नैतिकता का जुड़ना सामाजिकता का तकाजा होता है। सामाजिकता की वजह से ही नैतिकता आती है। नैतिकता एक तरह का सामाजिक अनुशासन है। कविता में नैतिकता का सवाल कविता में सामाजिक क्रियाकलाप के चित्रण के सवाल से भिन्न मानना चाहिए। हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य में जो सामाजिक परिवेश है, उसका नैतिक-अनैतिक से कोई सम्बन्ध नहीं है, उसका सम्बन्ध सामाजिक-आर्थिक आयाम से कविता को परिभाषित करने का है।

सभी तरह के मूल्य समाज सापेक्ष हैं, किन्तु यहीं पर एक सवाल यह उठता है कि मूल्य किसे कहे? और यह भी कि मूल्यों की स्वीकृति क्या सार्वभौम है या अलग-अलग सामाजिक समूहों के परिप्रेक्ष्य में है? दूसरा सवाल यह है कि मूल्य और साहित्य का आपसी रिश्ता किस तरह का है?

इस पर विचार करने के पूर्व मैं महादेवी वर्मा की कही हुई बात को पहले लेना चाहता हूँ। महादेवी वर्मा का एक लेख 24 फरवरी, 1980 के 'धर्मयुग' में प्रकाशित हुआ था। उसमें महादेवी जी ने मूल्यों को दो भागों में विभाजित किया है। उन्होंने कहा कि एक तरह के मूल्य वे हैं जो शाश्वत और चिरस्थायी हैं। स्नेह, संवेदना, करुणा, सद्भाव, बंधुत्व ऐसे ही मूल्य हैं और दूसरी तरह के मूल्य वे हैं जो युग परिवर्तन के साथ परिवर्तित होते रहते हैं।

इससे यह लगता है कि महादेवी वर्मा ने जिन्हें शाश्वत और चिरस्थायी मूल्य कहा उन्हें सार्वभौम होना चाहिए। ऐसा होने पर ही हम मानवता की व्याख्या कर सकेंगे या मानवीय संवेदना को पारिभाषित कर सकेंगे। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का यही आधार है। जहाँ तक साहित्य से इसके जुड़ने का सवाल है, तो यह स्पष्ट ही है कि समान मूल्यों के कारण ही विश्व के किसी कोने और किसी भाषा के साहित्य को पढ़ते हुए हम आनन्दित होते और सराहते हैं। अर्थात् सार्वभौम और शाश्वत मूल्यों के कारण ही हम अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, रूसी या फिर किसी भी भाषा के साहित्य से उसी तरह जुड़ते हैं जैसे कि अपनी भाषा के साहित्य से। सभी भाषाओं के साहित्य से लगाव का स्तर एक ही है। सभी भाषाओं के साहित्य में वर्णित स्नेह, संवेदना, करुणा को पढ़कर हममें समान प्रतिक्रिया होती है। इस आधार पर हम उन्हें मूलभूत मानवीय मूल्य कह सकते हैं। ये मूल्य सम्पूर्ण मानवता के मूल्य हैं, उन्हीं से सम्पूर्ण मानवता बँधी हुई है।

दूसरी तरह के मूल्य वे हैं जो परिवर्तनशील हैं और जिन्हें अलग-अलग समाजों के परिप्रेक्ष्य में देखना होता है। इसमें एक समाज का मान्य मूल्य दूसरे समाज में अमान्य और इसलिए त्याज्य हो सकता है। एक उदाहरण लेते हैं। हिन्दी के मध्य युग

के भक्ति काव्य में जीव और ब्रह्म को लेकर जो लिखा गया है उसमें सामान्यतया जीव को प्रेमिका या पत्नी और ब्रह्म को प्रेमी या पति माना गया है। कबीर कहते हैं 'हरि मोरा पिउ में हरि की बहुरिया।' पूरे भारतीय दर्शन में यही स्थिति स्वीकृत है। पर उसी भक्ति काव्य में प्रेम मार्गी सूफ़ी कवियों ने जीव को प्रेमी और ब्रह्म को प्रेमिका मानकर काव्य रचना की है। जायसी का 'पद्मावत' इसका ज्वलंत उदाहरण है। अब समूची भारतीय चिन्तन पद्धति और काव्य परम्परा को देखते हुए आत्मा (जीव) को प्रेमी और परमात्मा को प्रेमिका मानकर चलना भारतीय पाठक के गले नहीं उतरता। रसभंग होता रहता है। ऐसा इसलिए है कि सूफ़ी परम्परा और मान्यता कुछ इसी तरह की है। उसी के प्रभाव में या कहिए नकल में उर्दू शायरी में भी पुल्लिंग में ही सम्बोधित करने का रिवाज है। मोमिन कहते हैं 'तुम मिरे पास होते हो गोया, जब कोई दूसरा नहीं होता।' या फिर 'तुम हमारे किसी तरह न हुए, वरना दुनिया में क्या नहीं होता।'

दरअसल, इस पूरी बात को यों रखा जा सकता है कि मूल्य समाज द्वारा निर्मित हैं और समाज के लिए हैं। इसमें विश्व के प्रत्येक सभ्य समाज ने वास्तव में कुछ स्थायी मूल्य निर्मित किए शाश्वत मूल्य। ये शाश्वत मूल्य चूँकि मानवीय गुणों और उदात्त प्रवृत्तियों से ताल्लुक रखते हैं, इसी वजह से सम्पूर्ण विश्व में एक जैसे हैं। करुणा, स्नेह, सद्भाव, संवेदना का महत्त्व तो एक जैसा ही होगा, वह चाहे भारतीय समाज हो या ब्रिटिश। साहित्य चूँकि मूलतः उदात्त भाव की अभिव्यक्ति है, इसलिए एक भाषा का साहित्य दूसरी भाषा के पाठक को प्रभावित करता है। लेकिन प्रत्येक समाज के जो दूसरे मूल्य हैं, वे अन्य सामाजिक समूहों को प्रभावित नहीं करते और न उन्हें मान्य हैं।

इन बातों को ध्यान में रखकर अगर हम साहित्य पर विचार करें तो कह सकते हैं कि समाज के शाश्वत और सार्वभौम मूल्यों को अपने अन्दर समाहित करने वाला साहित्य सार्वभौम और चिरस्थायी होता है। और जो मूल्य किसी समाज तक ही सीमित रहते हैं, उन पर आधारित साहित्य हासमान होता है, और शीघ्र ही काल कवलित हो जाता है।

लेकिन यहाँ पर एक बात और भी है। एक ही समाज के उतार-चढ़ाव के साथ उस समाज के मूल्यों में भी परिवर्तन आता है। हिन्दी समाज के इतिहास को यदि हम गौर से देखें तो यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि हिन्दी समाज का पूरा इतिहास बहुत से उतार-चढ़ावों से भरा हुआ है। उसके साथ ही हमें समाज के मूल्यों में बहुत अधिक फेर-बदल दिखलाई देता है। बेशक मूलभूत मूल्य वे ही रहे जो पहले से चले आ रहे थे, पर समसामयिक परिवर्तनों के प्रभाव समरूप नए मूल्य बने और कुछ पुराने मूल्यों में बदलाव आया। मध्यकालीन हिन्दी समाज में यह परिवर्तन अधिक तेज गति से हुआ। इसका कारण राजनीति और शासन व्यवस्था में तेजी से बदलाव रहा। दूसरा कारण तुर्कों, पठानों, मुगलों के अपने मूल्यों और हमारे मूल्यों का आपसी

टकराव रहा। इस टकराव में आक्रमणकारी का पलड़ा भारी रहता ही है। हिन्दी कविता के विविध कालों के परिवर्तन का इतिहास उसी टकराव से पैदा हुआ है। सामंती मूल्य उसी से परिचालित रहे हैं।

कविता में जिन अस्थायी मूल्यों की बात की जा रही है। वे इसी तरह के मूल्य हैं, जो शाश्वत मूल्यों और मानवीय सरोकारों से भिन्नता लिए हुए हैं। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि मध्यकालीन सामंती व्यवस्था में लिखे गए काव्यों में शाश्वत मूल्य के दर्शन नहीं होते। शाश्वत मूल्य भी लगभग सभी कालों में लिखी गई कविताओं में मिलते हैं।

जहाँ तक आधुनिक कविता का सवाल है, मूल्यों की दृष्टि से इसे संक्रमणकालीन अवस्था कह सकते हैं। सामन्ती समाज का मूल्य हमने नकार दिया है। आधुनिक समाज के मूल्य क्या हैं, इसे हम समझ नहीं पाए हैं। वैज्ञानिक और तकनीकी विकास इतनी तेजी से हो रहा है कि उनके प्रभाव से निर्मित होने वाला मूल्य कोई आकार ग्रहण करे या उसकी कोई अवधारणा बने, उसके पहले ही विकास की गति और आगे बढ़ जाती है और मूल्य की प्रक्रिया अधूरी की अधूरी रह जाती है।

यहाँ इस ओर संकेत करना भी जरूरी है कि मूल्य से यहाँ जो अवधारणा ग्रहण की गई है, वह निश्चित ही आई.ए. रिचर्ड्स आदि की मूल्य सम्बन्धी अवधारणा से भिन्न है। रिचर्ड्स भावना और इच्छा को संतुष्ट करने वाली किसी भी चीज (रचना) को मूल्य के अन्तर्गत रखते हैं, जो भारतीय चिन्तन परम्परा के अनुकूल नहीं है। हमारे यहाँ करुणा, स्नेह, संवेदना, सद्भाव आदि उदात्त गुणों को शाश्वत मूल्य की संज्ञा दी जाती है। किसी भी भावना या इच्छा की तुष्टि जरूरी नहीं कि उच्च और उदात्त हो। दरअसल रिचर्ड्स ने अपनी आलोचना के पूरे ढाँचे को मनोविज्ञान और अर्थविज्ञान पर खड़ा किया है। इसीलिए उसने आवेगों की तुष्टि की बात लगातार की है।

अन्त में कविता के सम्प्रेषण को लेकर दो एक बातें अलग से कही जा सकती हैं। सामान्य भाषा की तरह ही कविता का भी बुनियादी प्रकार्य सम्प्रेषण है। पर यह सम्प्रेषण सीधा और सपाट नहीं होता। कई बार तो यह अनेक तरह की जटिलताओं और ग्रन्थियों में उलझा हुआ होता है। जो ऊपर से सीधी और सपाट कविताएँ दिखाई देती हैं, वे भी भिन्न-भिन्न रूपों में सम्प्रेषित हो सकती हैं। इसलिए बहुत बार कोई कविता अपनी सम्पूर्णता में सम्प्रेषित नहीं हो पाती। पढ़ने वाला अपने मानसिक स्तर, अपनी रुझान, अपनी सहृदयता आदि के हिसाब से उसे ग्रहण करता है। काव्य-सम्प्रेषण की यह सफलता है कि पाठक उसे पढ़ते हुए अपने को उसके साथ जोड़ता है। कविता की मनोदशा को अव्यक्त रूप से अपनाता है। जहाँ तक कवि का सवाल है, अपनी सर्जना को सम्प्रेषित करने का भाव प्रत्येक कवि कलाकार के मन में कहीं न कहीं रहता है। सम्प्रेषण, दरअसल, कवि की अनुभूति या उद्वेग या विचार का पाठक में स्थानान्तरण है।

मीडिया नियमन हो पाएगा क्या?

संजय कुमार*

गाहे-बगाहे मीडिया के नियमन को लेकर सरकारी व गैर सरकारी महकमे में गूँज सुनाई पड़ती रहती है। हालाँकि, सरकार साफ कह चुकी है कि वह मीडिया पर सेंसर लगाने के पक्ष में नहीं है। यह बार-बार दोहराया जाता रहा है, चाहे वह प्रधानमंत्री की ओर से हो या सूचना और प्रसारण मन्त्री की ओर से। केन्द्रीय सूचना और प्रसारण मंत्री अम्बिका सोनी ने 25 फरवरी, 2012 को नई दिल्ली में एक समारोह में साफ शब्दों में कहा कि, सरकार मीडिया पर सेंसर लगाने के पक्ष में नहीं है। उन्होंने कहा कि सरकार मीडिया से प्रचारित-प्रसारित सामग्री पर कोई नियमन नहीं करना चाहती। सरकार चाहेगी कि मीडिया स्वयं नियमन करें।

मीडिया नियमन पर लम्बे समय से चर्चा की जाती रही है, लेकिन इस प्रक्रिया की विश्वसनीयता और स्वीकार्यता की स्थापना के लिए उचित समय दिया जाना आवश्यक है। मीडिया में विश्वसनीयता और स्वीकार्यता की जो स्थिति आज है, उसे देखते हुए प्रसारण पूर्व सतर्कता और नियमन से जुड़े अहम मुद्दों पर विचार-विमर्श किया जाना चाहिए। खबर के नाम पर कुछ भी दिखा दिया जाना समाज-देश के हित में नहीं है? बात केवल नियमन तक ही नहीं है, इसके अन्दर राजनीतिक घुसपैठ की भी है।

24 फरवरी, 2012 को, पटना में एक कार्यक्रम के दौरान जब भारतीय प्रेस परिषद के अध्यक्ष न्यायमूर्ति मार्कंडेय काटजू ने कहा कि बिहार की मीडिया के बारे में उन्हें जो जानकारी मिली है, वह अच्छी नहीं है। जो यहाँ हो रहा है, वह ठीक नहीं है, प्रेस की आजादी के खिलाफ है। न्यायमूर्ति मार्कंडेय काटजू ने कहा, “मैंने सुना है कि बिहार में लालू प्रसाद की तुलना में वर्तमान सरकार ने बेहतर कानून-व्यवस्था कायम किया है, लेकिन जो दूसरी बात मैंने सुनी है वह यह है कि लालूजी की सरकार

* लेखक इलेक्ट्रॉनिक मीडिया से जुड़े हैं। सम्पर्क : 303, दिगम्बर प्लेस, डॉक्टर्स कॉलोनी, लोहियानगर, कंकड़वाग, पटना 800020, बिहार; मो. 09934293148

के समय प्रेस को आजादी होती थी, जो वर्तमान सरकार में नहीं है।” श्री मार्कंडेय काटजू ने कहा कि, अगर किसी पत्रकार ने सरकार, मन्त्री या अधिकारी के खिलाफ कोई खबर लिख दी, तो उसे नौकरी से निकलवा दिया जाता है या फिर उसका स्थानान्तरण कर दिया जाता है। मैंने अब तक इस मामले में पूरी तरह से अपनी राय कायम नहीं की है। मगर मुझे जो सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं, उसके आधार पर ऐसा कह रहा हूँ। न्यायमूर्ति मार्कंडेय काटजू का इतना कहना था कि विरोध के स्वर फूट पड़े। चर्चा बिहार विधानमण्डल के अन्दर भी हुई। न्यायमूर्ति मार्कंडेय काटजू ने जो कहा वह मीडिया और स्थानीय सरकार पर थी। बवाल होना ही था।

आरोप-प्रत्यारोप के बीच सवाल नियमन का ही उठता है। आखिर ऐसा क्यों? जो बातें मीडिया के अन्दर से आनी चाहिए थी, वह प्रेस परिषद की ओर से आ रही है। मीडिया चाहे वह बिहार की हो या देश के अन्य भाग की, जब भी उस पर अंकुश लगाने की पहल हुई, तो खुलकर विरोध किया गया। लेकिन, जब खुद मीडिया अपने फायदे के लिए समझौता कर ले तो, इसे क्या कहा जाए? बिहार में प्रेस पर लगे काला विधेयक के खिलाफ दशकों पूर्व यहाँ की मीडिया का विरोधी तेवर फूटते देखा गया था। तो, आज जो प्रेस परिषद के अध्यक्ष न्यायमूर्ति मार्कंडेय काटजू कह रहे हैं वह सब क्या बेकार है? या फिर कहीं मीडिया का अघोषित समझौता तो नहीं? प्रेस की आजादी यानी उस पर कोई नियन्त्रण नहीं। यह बात देश के प्रधानमन्त्री डॉ. मनमोहन सिंह भी कह चुके हैं। 2 जनवरी, 2012 को नई दिल्ली में एक समारोह को सम्बोधित करते हुए प्रधानमन्त्री ने मीडिया पर किसी तरह के बाहरी नियन्त्रण से इनकार करते हुए कहा कि, देश का मीडिया पेड न्यूज जैसी बुराइयों पर खुद ही काबू पा सकता है। उन्होंने कहा कि जब से हम आजाद हुए हैं तभी से मीडिया की भूमिका और उसके काम करने के तरीके पर हमारे देश में चर्चा होती रही है। प्रधानमन्त्री ने कहा कि मीडिया के ऊपर किसी तरह का बाहरी नियन्त्रण नहीं लगाया जाना चाहिए। लेकिन मीडिया के प्रतिनिधियों को मिल-जुलकर कोई ऐसा रास्ता निकालना चाहिए जिससे निष्पक्षता को बढ़ावा मिले और सनसनी कम हो सके। उन्होंने कहा कि हम उन मुद्दों का कवरेज बढ़ा सकते हैं जो हमारे देश के लिए वास्तव में महत्वपूर्ण हैं।

सरकार की बातों से लगता है कि वह कोई नियमन थोपना नहीं चाहती है। ऐसे में स्वतः मीडिया को आगे आना होगा? अपने ऊपर लग रहे आरोपों को पारदर्शिता के साथ हटाना होगा। यह तब हो पाएगा, जब खबरों को लेकर नियमन बनें? हालाँकि, पिछले कुछ वर्ष पूर्व जब खबरिया चैनलों पर खबरों के प्रसारण के स्तर को लेकर खिंचाई होने लगी तब कुछ खबरिया चैनलों ने मिलकर एक नियमन बना लिया कि किस खबर को देना है और किसे नहीं।

मीडिया पर निगाह रखने को लेकर नागरिकों की स्वतन्त्र संस्था बने इस पर चर्चा होने लगी है। नई दिल्ली में 2 अप्रैल, 2012 को मीडिया शोध जर्नल ‘जन

मीडिया’ और ‘मास मीडिया’ का लोकार्पण करते हुए वरिष्ठ अधिवक्ता प्रशान्त भूषण ने कहा कि मीडिया सभी पर निगाह रखती है, लेकिन अब जरूरत है कि मीडिया पर निगाह रखने के लिए नागरिकों की स्वतन्त्र संस्था बने, जो पूरी तरह से स्वतन्त्र रहे। उन्होंने कहा कि प्रेस काउंसिल जैसी संस्थाएँ पूरी तरह से नकारा साबित हो गई हैं। जरूरत है कि नागरिक समाज की तरफ से ऐसी संस्था बने जो मीडिया के कामकाज और उसकी खबरों पर नजर रख सके। इस संस्था को कड़े कदम उठाने के अधिकार भी होने चाहिए। उन्होंने कहा कि मीडिया की भूमिका महत्वपूर्ण होती है, लेकिन कई बार वहाँ छपने वाली खबरें पूरी तरह से गलत और मनगढ़ंत होती हैं। आतंकवाद के मामले में ऐसा कई बार हुआ है जब पुलिस के बयान को ही खबर बनाकर पेश किया जाता है। मीडिया में आतंकवादी करार दिए जाने के बाद कई ऐसे मुस्लिम युवाओं को अदालतों ने निर्दोष करार दिया।

मीडिया नियमन का सवाल हर ओर से उठने लगा है, ऐसे में पूरे मामले को देखा जाए तो बात साफ है कि मीडिया को नियमन बनाकर खुद उस पर पहल करने की जरूरत भी है। मीडिया को एक प्रहरी की भूमिका में रहते हुए आम जीवन से जुड़ी सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक-शैक्षिक, आर्थिक विकास के सकारात्मक एवं नकारात्मक पक्षों को उजागर करने की है। लेकिन, ऐसा हो नहीं रहा है। खबरिया चैनल ‘स्टिंग ऑपरेशन’, ‘ब्रेकिंग न्यूज’ और ‘केवल इसी चैनल पर’ के साथ अपने को बाजार में मजबूत बनाने में जहाँ सक्रिय हैं वहीं प्रिन्ट मीडिया भी विकासमूलक खबरों की जगह अपराध पर ज्यादा ध्यान केंद्रित करते हैं। ऐसे में पत्रकारिता के सेहत का बिगड़ना स्वाभाविक है।

मीडिया, बाजार और लोकतन्त्र के उहा-पोहा से बाहर नहीं निकल पाई है, बल्कि इसमें और फँसती ही जा रही है। ऐसे में मीडिया नियमन या स्व-नियमन के सवाल को लेकर हर स्तर पर मत एवं सम्मत आते ही रहते हैं। नियमन के सवाल पर निजी मीडिया अपने ऊपर लगने वाले सरकारी सेंसर को लेकर समय-समय पर चिल्ला-चिल्लाकर नाक में दम कर देती है। तो मजबूरन सरकार को सामने आकर कहना पड़ता है कि सरकार मीडिया पर सेंसर लगाने के पक्ष में नहीं है। सवाल उठता है कि ये सवाल आते कहाँ से हैं? तो इसका सीधा-सा जवाब है खुद मीडिया के अन्दर से। खबरों को बेचने, सनसनी बनाने एवं पेड न्यूज जैसे प्रचलन ने मीडिया को सवालियों के घेरे में लिया है। जनपक्षीय व सामाजिक सरोकारों से आज मीडिया का मोह भंग लगभग हो चुका है। खबरों में जनसरोकार की जगह धन सरोकार की गंध फैल चुकी है। आरोप लगता रहता है कि खबर के नाम पर बेमतलब की चीजों से पटी मीडिया, खबरों को ही मैनेज करती फिरती है। ऐसे में अपने एथिक्स को दरकिनार कर चुकी मीडिया पर नियमन को लेकर हो-हल्ला मचना स्वाभाविक हो जाता है।

जो नियमन आमतौर पर है उसे समय-समय पर धत्ता बता दिया जाता है। बलात्कार से पीड़ित लड़की/महिला की फोटो उसके मूल नाम के साथ छाप या दिखा दिया जाता है। ऐसे कई मसले हैं जहाँ मीडिया नियमन खुलेआम तोड़ती मिलती है। आश्चर्य तब होता है जब मीडिया के ऊपर हमला होता है। मीडिया का प्रतिकार देखने लायक होता है। फिर कुछ समय बाद मीडिया पर हमला बोलने वालों को खुद मीडिया हीरो बनाकर पेश करने से भी बाज नहीं आती, जबकि खबर के लिए कहीं से हमला करने वाला व्यक्ति इसके लायक नहीं होता कि वह खबर बनो। हाल ही में पटना के मीडिया ने एक दबंग विधायक को हाथों-हाथ लिया। खूब फोटो छापे-दिखाए। जी हाँ, वे वही विधायक हैं जिन्होंने एक खबरिया चैनल के पत्रकार और कैमरामैन को खूब मारा-पीटा था। स्थानीय-राष्ट्रीय मीडिया ने चीख-चीखकर प्रेस की अभिव्यक्ति पर हमले के खिलाफ आवाज बुलंद की थी। घटना को बीते महज कुछ ही दिन हुए थे कि, विधायक महादेव की शाही अंदाज में तस्वीर स्थानीय पत्रों में छापी गई। ऐसे में मीडिया के दोहरे चरित्र का पर्दाफाश होता है। मामला नियमन पर आता है। आखिर वे दिखाना क्या चाहते हैं? एक ओर उन्हें मारा-पीटा जाता है, दूसरी ओर पीटने वाले को ही हीरो बना कर प्रोजेक्ट किया जाता है। आज पत्रकारों के सन्दर्भ में खुलेआम कहा जाता है कि एक बोटल शराब और कुछ खिला-पिला दो और जो छपवाना हो छपवा लो? कहा जा सकता है कि बाजारवाद के शिकंजे में आज मीडिया इस कदर फँस चुकी है कि इसके बढ़ते प्रभाव ने पत्रकारिता के एथिक्स तक को दरकिनार कर दिया है। राजनीतिक सोच के आगे पत्रकारिता की सोच बौनी होती जा रही है।

सूफी सन्त

डॉ. बीनल जी घेटिया*

‘सूफी’ शब्द पर विभिन्न मत-मतान्तर रहे हैं। इन सन्तों का प्रमुख लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति करना था। मुख्यतः जीव और ईश्वर का सम्बन्ध प्रिया एवं प्रियतम का रहा है। इसमें शेख सिराजुद्दीन अझीझुल्लाह, पीर सैयद इमामुद्दीन और हसरत सैयद मुहम्मद जौनपुरी आदि प्रमुख रहे हैं। इनमें दो सूफी सन्त प्रभावी रहे जिन्हें हम इस प्रकार देख सकते हैं।

सूफी सन्तों के शहंशाह अल मन्सुर हल्लाज

सूफी सन्तों के शहंशाह अल मन्सुर हल्लाज का जन्म 26 मार्च 858 को पर्शियाना फरस गाँव में हुआ था। उनका मूल नाम हुसेन था। पिता का नाम मन्सुर। वह पिता के नाम से ही प्रसिद्ध हुए। मन्सुर के पिता रूई धुनते थे। अरबी में हल्लाज शब्द का अर्थ रूई धुनने वाला होता है। अल मन्सुर के पितामह झोर्सतयिन धर्म का अनुसरण करते थे। किन्तु पिता ने इस्लाम धर्म अंगीकार किया था। 18 वर्ष की आयु में मन्सुर सहल बीन अब्दुल अर्जीज के शिष्य बने। इसके बाद मन्सुर ईराक और अरब गए। वहाँ अबुल हुसेन सारी और जुनेद बगदादी जैसे सूफी सन्तों से सम्पर्क हुआ और मन्सुर याका सूफी बन गए। तीन बार हज अदा करने वाले मन्सुर ने सूफी दरवेशों की निम्न दी गई सभी आचार संहिता का शब्दशः पालन किया।

1. भूख न लगे तब तक भीख न माँगना।
2. जरूरत हो उतना ही ग्रहण करना।
3. सुशील और विनम्र बनना।
4. भिक्षा हेतु धनवान व्यक्ति के गुण न गाना।
5. धनवान कुछ न भी दे तो उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए।
6. दीनता को जीवन में उतारना।

*डॉ. बीनल जी. घेटिया, ‘समर्पण’ तिरुपति सोसायटी, जामजोधपुर 360530 जिला : जामनगर (गुजरात); मो. 09428986416

7. भविष्य की चिन्ता न करना।
8. जो कुछ भी स्वेच्छा से मिले उसको स्वीकार करना।
9. भिक्षा हेतु धर्म-लाभ की झूठी बातें न करना।

इन सभी आचार व्यवहार को जीवन में साकार करते अल मन्सुर ने एक दिन कहा “अनलहक” अर्थात् “मैं खुदा हूँ”, “अहम ब्रह्मास्मि”

मन्सुर ने अपनी इस उक्ति को स्पष्ट करते हुए कहा “खुदा के साथ मेरी निकटता के कारण खुदा और मैं अब भिन्न नहीं रहे। खुदा और उसकी इबादत करने वाला बन्दा अब एकाकार हो गए हैं।”

किन्तु इस्लाम का कट्टरवादी वर्ग मन्सुर के इस विचार की गहनता को नहीं नाप सका और मन्सुर का विरोध आरम्भ किया। इस विद्रोह की पराकाष्ठा तब हुई जब मन्सुर ने अपने काव्य में गाया

“अगर है शौक मिलने का
तो हरदम लौ लगाता जा
जला कर खुद नुमाई को
भस्म तन पर चढ़ाता जा
मुसल्ला फाड़, तस्बी तोड़
किताबें डाल पानी में
पकड़ दस्त तुं फरिश्तों का
गुलाम उनको कहेता जा,
न मर भूखा न कर रोजा
न जा मस्जिद, न कर सजदा,
हुकुम है शाह कलन्दर का
अनल हक तू कहता जा
कहे मन्सुर मस्ताना
कह मैंने दिल में पहचाना
वही मस्तो का मैखाना
उसी के बीच आता जा।”

मन्सुर के इस कथन के बाद उसे मौत की सजा सुनाई गई। वह सजा हृदय कम्पित कर देने जैसी थी। भगवान ईशु को तो सूली पर चढ़ाकर हाथ-पैर पर कीलें ठोकी गई थीं। किन्तु मन्सुर को सूली चढ़ाने से पहले उसके एक-एक अंग काटे गए थे। सजा का आरम्भ हो उससे पहले मन्सुर ने अपने मित्र शीवली से पूछा :

“तुम्हारे पास मुसल्ला (नमाज पढ़ने की चद्दर) है?”

शीवली को आश्चर्य हुआ। जो मन्सुर ‘मुसल्ला फाड़, तस्बी तोड़’ के नारे लगा रहा था, वही आज जीवन की अन्तिम घड़ी में नमाज पढ़ने के लिए मुसल्ला माँग रहा है? शीवली ने मन्सुर को मुसल्ला दिया। मुसल्ला बिछाकर मन्सुर ने नमाज आरम्भ की। किन्तु जल्लादों ने उसको नमाज पढ़ने नहीं दिया। मन्सुर के दोनों पैर काट दिए। तब मन्सुर ने आसमान की ओर निगाह करके कहा : “या अल्लाह, नमाज के लिए पैरों की क्या आवश्यकता? मैं तो बिना पैरों के ही तुझ में एकाकार हो चुका हूँ।”

जल्लादों ने मन्सुर का यह कथन सुना, तुरन्त ही उसके दोनों हाथ काट दिए। बाद में जिहवा। फिर भी मन्सुर हँसता रहा। हजारों लोग चारों ओर से मन्सुर पर पत्थरों की बारिश कर रहे थे। फिर भी मन्सुर की मुस्कान बरकरार था। लेकिन जब उसके परम मित्र शीवली ने भीड़ में से एक फूल फेंका तब मन्सुर की मुस्कान खंडित हुई। उसने दुःखी होकर शीवली की ओर एक नजर डाली। शीवली मन्सुर की उस नजर को सह न सका और उसने नजर झुकाई। साथ ही मन्सुर की क्रूर हत्या हुई। वह दिन था 26 मार्च 922। अल मन्सुर का लिखा ग्रन्थ ‘किताब-अल-त्वासीन’ सूफी विचारधारा को प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। उसमें आदम और शैतान के बीच के सुन्दर संवादों को आलेखित किया गया है। मन्सुर उसमें लिखते हैं “अगर आप खुदा को पहचान न सकें, तो खुदा की निशानियों को पहचानने का प्रयास करें। वही सत्य है। मैंने उस सत्य को पाया, इसीलिए कहा ‘अनलहक’।

मन्सुर के आध्यात्मिक विचारों में ताजगी एवं गहनता सन्निहित थी। वह कहते “वायु मनुष्य का जीवन है। परमात्मा हृदय का जीवन है। विश्व का त्याग शरीर की परेहजगारी है। परलोक का त्याग मन ही परेहजगारी है। एक कदम विश्व में और एक कदम परलोक में से उनके विचारों के प्रभाव से ही वह उनके शिष्य बने। पाँच हजार दोहों एवं शायरी की पाँच किताबें लिखने वाले खुसरो की रचनाओं में सूफी विचारों का प्रभाव सहज मिल जाता है।

अपने गुरु निजामुद्दीन औलिया के अवसान की जानकारी उसे बहुत दिनों बाद होती है। पता चलते ही अमीर खुसरो उसकी दरगाह पर पहुँच गए। इतने रोए कि आँखों से आँसू सूखना मुश्किल हो गया। तब ही उनके अन्दर का कवि बोल उठा

“खुसरो रैन सोहाग की
जागी पी के संग
तन मोरो मन पिउ को
दाउ भये एक संग
गोरी सोवे सेज पर
मुख पर डारे केस

चल खुसरो घर अपने
रैन भई चहुँ देस

श्याम सेत गोरी लिए
जनमत भई अनित
एक पल में फिर जाते
जोगी काके मीत ।”

इस दोहे के तुरन्त बाद ही वहीं गुरु की दरगाह पर खुसरो बेहोश हो गए।
मन्सुर की निर्मम हत्या के वर्षों बाद शायर-ए-आजम गालिब ने मन्सुर को
अंजली अर्पित करते कहा था

“दी गई मन्सुर को शूली
अदब के तर्क पर
था अनलहक हक्क
मगर यक लफजे गुस्ताखाना था ।”

कलम के बादशाह अमीर खुसरो

सूफी विचारधारा को सूफी सन्तों ने आलम (आचरण) से साकार किया है। जब कि कुछ चिन्तकों ने अपनी कलम के जरिए लोकभोग्य बनाया है। उसमें अमीर खुसरो अग्र गण्य हैं। सूफी विचारधारा की चिश्ती परम्परा के माने-जाने सन्त मुहम्मद निजामुद्दीन औलिया के शिष्य अमीर खुसरो का जन्म सन् 1253 ई. में पतियाला (इस वक्त का उत्तर प्रदेश) में हुआ था। उनका मूल नाम अबुल हसन था। दिल्ली के बादशाह इल्तुत्मासना युर्की अधिकारी के पुत्र अमीर खुसरो 1292 तक बादशाह की सेवा में रहे। फारसी के ज्ञाता प्रखर शायर और इतिहासविद अमीर खुसरो के जीवन में निजामुद्दीन औलिया का प्रवेश अनायास ही हुआ था। खुसरो ने इसी रचना में खुदा-ईश्वर को प्रियतम के रूप में आलेखित किया है। उसकी रचनाओं में प्रियतम का प्रेम खुदा-ईश्वर की प्रेमाभिव्यक्ति है। तो कभी खुसरो मनुष्य देह को दुल्हन के रूप में भी प्रतिपादित करते हैं

“बहुत रही बाबुल घर दुल्हनिया
चल तेरे पी ने बुलाई
बहुत खेल-खेली सखीयान से
अन्त करी लारकाई
न्हाय धोय के वस्तर पहिरे
सब ही सिंगार बनाई

विदा करन को कुटुम्ब सब आए
सीगरे लोग लुगई

बेटत महिन कपरे पहनाए
केसर सिलक लगाई
खुसरो चली ससुरारी सजनी
संग नहीं कोई जाई ।”

बाबुल अर्थात् पिता के घर को खुसरो इहलोक के रूप में वर्णन करते हैं। मानव शरीर को दुल्हन कहा है। इहलोक में मानव देह कई समय तक रहा। अच्छे-बुरे कर्म किए, किन्तु अब ससुराल यानी कि परलोक जाने का समय हो चुका है। परलोक के साज-शृंगार भिन्न ही है। वहाँ सद्कर्मों का सुवास एवं परमतत्त्व की इबादत साथ जाएगी। अब तो उसकी ही तैयारियाँ करनी हैं। वहाँ साथ कोई नहीं जाता, अकेले ही जाना होता है।

आवागमन के विचार को आसान शब्दों में अभिव्यक्ति मिलने वाली रचनाओं में ‘खजैन-अल-फतह’ और ‘तारीख-ए-अलाय’ है। जब ऐतिहासिक रचनाओं में ‘नूह सिझिर’ और ‘तुगलखनाम’ ख्यातनाम है। सन् 1325 में उनका अवसान हुआ। खुसरो की अन्तिम इच्छानुसार उन्हें गुरु निजामुद्दीन औलिया की कब्र के पास ही दफनाया गया। आज भी गुरु-शिष्य की जुगलबन्दी एकान्त पलों में सूफी विचारों की गहनता पर तर्क करती होगी। किन्तु उस तर्क का मर्म हमारे नसीब में कहाँ?

विवेक-जनित पावनता की सुगंध

कृष्णदत्त पालीवाल*

हिन्दी साहित्य के समकालीन परिदृश्य में नन्दकिशोर आचार्य एक ऐसा विशिष्ट नाम है जिसने अपने मूलगामी चिन्तन से पाठकों को दूर तक प्रभावित किया है। कविता, नाटक, निबन्ध, आलोचना के क्षेत्र में वह लगभग पाँच दशकों से सक्रिय है। इस सक्रियता में उनका निर्भीक सर्जक और चिन्तक हृदय और बुद्धि की मुक्तावस्था से नए रास्तों की तलाश करता रहा है। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय जी ने नन्दकिशोर आचार्य की मौलिक प्रतिभा से चकित होकर भी उन्हें अपने से अभिन्न बनाया और चौथा सप्तक में स्थान दिया। आचार्य की साहित्य, दर्शन, इतिहास, पत्रकारिता तथा तमाम कलाओं में गहरी रुचि रही। इस अन्तर्विद्याश्रयी बहुज्ञता का सुफल यह हुआ कि नाटक का क्षेत्र हो या निबन्ध का क्षेत्र, वह संस्कृति, साहित्य, भाषा, परम्परा, अध्यात्म दर्शन के सम्बन्ध में पारम्परिक अवधारणाओं का मूर्तिभंजन करते रहे हैं।

आज हम सभी अनुभव करते हैं कि जड़ स्थापनाओं का खंडन उनकी प्रकृति का अंग ही बन गया और इस क्षेत्र में वह ऐसे आनन्द का अनुभव करते हैं कि बहुधा चिन्तन के श्रेष्ठतम बिन्दुओं का सहज ही स्पर्श करते मिलते हैं। उनके लिए सृजन-कर्म नए ढंग की अर्थोपत्ति का सन्देश है। उनके सृजन-कर्म की अन्तःयात्रा में जागरूक पाठक पाता है कि उन पर गाँधी, अज्ञेय, मानवेन्द्र राय तथा निर्मल वर्मा के चिन्तन की गहरी धमक है। पश्चिमी दर्शन, साहित्य, इतिहास साहित्यालोचन को उन्होंने मनोयोगपूर्वक पढ़ा है। एक अर्थ में वह गाँधी और अज्ञेय के मानस शिष्य हैं, लेकिन उनके अंध अनुकर्ता नहीं हैं। उनकी अपनी मौलिक सोच है जो चिन्तन को न केवल अर्थ का नयापन देती है बल्कि उसमें सर्जनात्मकता के खमीर से नए स्वाद की सृष्टि करती है।

*भूतपूर्व अध्यक्ष हिन्दी साहित्य विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

मेरे जैसे पाठक तो आचार्य जी के निबन्ध-कर्म को अज्ञेय निर्मल वर्मा की निबन्ध परम्परा का अगला विस्तार मानते हैं। निबन्ध लिखना उनके लिए रचना का अन्तरंग जैसे निबन्ध-संग्रह में अपनी प्रश्नानकुलताओं, चिन्ताओं, समस्याओं, जिज्ञासाओं को सुलझाना नहीं है, जितना तेजी से बदलते जटिल यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में उत्तर-आधुनिक सन्दर्भों से जुड़ते हुए उनका नए सिरे से सामना करना; परम्परा, आधुनिकता, अध्यात्म, अहिंसा, संस्कृति, इतिहास, स्मृति, काल-चिन्तन जैसी तमाम अवधारणाओं की पुनः-पुनः व्याख्या करना; कभी-कभार तो गाँधी जी की अहिंसा, अपरिग्रह, सत्याग्रह जैसी अवधारणाओं की व्याख्या में प्रवेश करके विचारयोगी की तरह चित्त समाधि लगाकर उसकी पुनः व्याख्या का अन्तःपाठ उठाना।

इस नए निबन्ध-संग्रह में नन्दकिशोर आचार्य ने अपनी प्रश्नाकुलता में साहित्य, संस्कृति, धर्म, दर्शन से जुड़े तमाम प्रश्नों को विचार के स्तर पर उठाया है, जिनके कारण इक्कीसवीं शताब्दी के इस प्रथम चरण में ही हमें अपनी जातीय स्मृति, जातीय अस्मिता की खोज जरूरी जान पड़ती है। बीसवीं शताब्दी के पिछले वर्षों में जिन अवधारणाओं पर धूल जमा हो गई थी, उसे पोंछकर आचार्य जी ने अपने समय के प्रश्नों पर पुनः चिन्तन किया है। उन्होंने *संवेदनात्मक सत्याग्रह, कला की जैविक प्रासंगिकता, संस्कृति, भाषा, हिन्दी की दार्शनिक सर्जनात्मकता* जैसे जटिल प्रश्नों का भारतीय परम्परा के सन्दर्भ में नया पाठ करने का अद्भुत साहस दिखाया है।

दरअसल, महात्मा गाँधी, अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय वर्धा के संस्कृति विद्यापीठ के अतिथि प्रोफेसर रहे आचार्य जी ने न केवल वहाँ अहिंसा पाठ्यक्रम को अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा से नई दिशा दृष्टि दी, बल्कि उसे ज्ञान के अन्य अनुशासनों से जोड़कर तुलनात्मक अध्ययन की एक नई प्रविधि का भी आविष्कार किया। अहिंसा, अपरिग्रह, सत्याग्रह, संस्कृति, राजनीति, इतिहास के क्षेत्रों से वह ऐसे तदाकार रहे कि विचार का अनोखा नीला कमल ही खिल गया। *अहिंसा विश्वकोश* इस अकेले चिन्तक का चकित करने वाला अनुसंधान कार्य है। यही चिन्तन रस रसायन उनके रचना का अन्तरंग के निबन्धों में पावनतान-जनित विवेक की सुगंध बनकर फूट-फट पड़ा है। इस कोश से पहले आचार्य जी के दस नाटक, दस काव्य-संग्रह आ चुके थे और वे नई-नई राहों की तलाश के लिए बेचैन थे।

हमें पता है कि उन्होंने जापानी जेन साधना के प्रख्यात कवि रियोकान के काव्यानुवाद *सुनते हुए बारिश* के अतिरिक्त लोर्का, जोसेफ, ब्रादस्की, ब्लादिमिर होलन तथा आधुनिक अरबी कविताओं का हिन्दी रूपान्तरण बड़े मनोयोगपूर्वक किया है। इतना ही नहीं उन्होंने अनथक साधना से मानवेन्द्रनाथ के *न्यू हार्मोनिटिज्म* (नवमानवतावाद) *साइंस एण्ड फिलॉसफी* (विज्ञान और दर्शन) तथा *रिफ्लेक्शन आन गाँधीज हिन्द स्वराज* (हिन्द स्वराज पश्चिमी दृष्टि में) का हिन्दी अनुवाद भी किया है। इन अनुवादों ने उनकी मनोभूमिका को नए ढंग से निर्मित किया। फलतः उनकी मानसिकता में

अखंड दृष्टि का प्रवेश हुआ। खंडित व्यक्तित्व और चिन्तन का अधूरा आदमी ऐसे निबन्ध नहीं लिख सकता है जैसे कि निबन्ध आचार्य जी ने समय-समय पर लिखे हैं।

मुझे याद है कि आचार्य जी ने चिन्तन की स्थायी भूमि *कल्चरल पालिटी ऑफ हिन्दूज* और *दि पालिटी इन शुक्रनीतिसार* (शोध) से प्राप्त की। उन्होंने निबन्ध-संग्रहों का एक संसार खड़ा किया जिनमें *संस्कृति का व्याकरण, परम्परा और परिवर्तन, आधुनिक विचार और शिक्षा, शिक्षा का सत्याग्रह, मानवाधिकार के तकाजे, संस्कृति की सामाजिकी, संस्कृति की सभ्यता तथा संस्कृति की आर्थिकी, सभ्यता का विकल्प* तथा *सत्याग्रह की संस्कृति* ने बौद्धिक क्षेत्र में तहलका मचाया है।

संस्कृति पर विचार करने वालों में आचार्य जी को अज्ञेय, विद्यानिवास मिश्र, हजारी प्रसाद द्विवेदी, गोविन्दचन्द्र पांडेय, डी.डी. कौशाम्बी की परम्परा का खरा निर्भय चिन्तक मानना होगा। उन्होंने जीवन इस संकल्प को समर्पित कर दिया है कि मानव मूलतः हिंसक नहीं है। इसीलिए हिन्दी के आलोचक डॉ. नामवर सिंह ने जो वैचारिक हिंसा अज्ञेय जी को *चिम्पाजी* तथा *मनहूस* कहकर की है, उसकी आचार्य जी ने *भाषा में अविचार* निबन्ध में कड़े शब्दों में निन्दा की है।

आचार्य जी ने *भाषा में अविचार*, निबन्ध में लिखा है और ऐसा लिखना हर अहिंसक चिन्तक को शोभा देता है कि *आलोचना विचार की भाषा है गाली वाली अविचार की नहीं*। आचार्य जी ने कहा है किसमूचे साहित्यिक या बौद्धिक वातावरण में असहिष्णुता इस तरह तारी है कि रचना और विचार की दुनिया में लोग उनके बारे में असहमत लेखक की बात ही नहीं सुनना-पढ़ना चाहते और उसके बारे में ऐसी भाषा में बात करते हैं मानो वह लेखक न होकर कोई जेबकतरा या यदि बड़ा है तो कोई तस्कर आदि हो।

यदि नामवर जी या ज्ञानरंजन जैसे यशस्वी और प्रतिष्ठित लेखक *कूड़ा* और *चिम्पाजी*, *प्रेत* जैसी शब्दावली का प्रयोग करते हों तो नए लेखकों को दोष देने का क्या औचित्य होगा? अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य के नाम पर ऐसी शब्दावली को क्षम्य तो माना जा सकता है लेकिन स्वीकार्य या वांछनीय नहीं। (रचना का अन्तरंग पृ. 116)

साथ ही आचार्य जी यह कहना भी नहीं भूले कि आज नामवर जी अज्ञेय को बड़ा साहित्यकार कहते हैं। और *शेखर : एक जीवनी* को हिन्दी के पाँच कालजयी उपन्यासों में गिनते हैं। लेकिन विचार के बजाय गाली या अपमान की भाषा में बोलते कभी उन्होंने ही कहा था कि अज्ञेय चिड़ियाघर के किसी *चिम्पाजी* के समान गम्भीर और *मनहूस* दिखाई देते हैं। क्या यह विचार की भाषा है। क्या एक बड़ा आलोचक एक बड़े लेखक के बारे में ऐसी भाषा का इस्तेमाल कर सकता है? नामवर जी कइयों के लिए आलोचना के रोल मॉडल होंगे? वे इस भाषा से क्या सीखेंगे? (वही पृ. 116)

रचनाकारों को लेकर प्रायः नामवरसिंह के विचार भ्रामक और राजनीति से प्रेरित होते हैं। आज अज्ञेय जन्म शताब्दी के वर्ष में अज्ञेय जी के सृजन-कर्म की हर ओर से सराहना हो रही है, तो नामवरसिंह भी हवा के अनुकूल एन.बी.टी. से प्रकाशित अज्ञेय

की कविताओं के संचयनकर्ता के रूप में एक छोटी भूमिका लिखते हैं। और अज्ञेय के कवि-कर्म की प्रशंसा के पुल बाँधने के लिए उन्हें *साहित्य का अमृतपुत्र* तक कहते हैं। नामवरी आलोचना की अवसरवादिता का साहित्य में यह अद्भुत नमूना है।

नन्दकिशोर आचार्य ने बहुत कम उम्र में लगभग तेईस-चौबीस वर्ष की उम्र में अज्ञेय के कवि-कर्म पर *अज्ञेय की काव्यतितीर्षा* पुस्तक लिखी थी। आज भी वह पुस्तक हिन्दी की सर्जनात्मक आलोचना का प्रतिमान है। आचार्य जी ने अपना पूरा जीवन ही अज्ञेय के रचना-कर्म के चिन्तन को समर्पित कर दिया है। लेकिन उनके चिन्तन की धार में कहीं भी संयम-सन्तुलन का अभाव नहीं है। यहाँ *स्वतन्त्रता के अन्वेषी अज्ञेय* निबन्ध में आचार्य जी के चिन्तन की मौलिकता उनकी बाँकी शालीनता में देखते ही बनती है।

आचार्य जी ने अज्ञेय के विद्रोही व्यक्तित्व और युग प्रवर्तक रचनाकार व्यक्तित्व को ठीक-ठीक पहचान कर ही माना है कि उत्तर-छायावाद काल को स्वातन्त्र्य के बाद के हिन्दी साहित्य के युग को अज्ञेय युग कहना चाहिए। क्योंकि इस काल के पूरे चिन्तन पर अज्ञेय की अमिट छाप है। उन्होंने हजार-हजार हाथों से इस नए रचना-कार्य को सींचा और पनपाया है। आचार्य जी ने माना है कि स्वतन्त्रता के अन्वेषी थे अज्ञेय। अज्ञेय पर मानवेन्द्र राय, गाँधी जी, जयप्रकाश नारायण, लोहिया जी के विचारों की गहरी धाक है, लेकिन दूर तक अज्ञेय अलीकी चिन्तक हैं। आचार्य जी का इस प्रबन्ध पर एक साक्षात्कार में यह विचार व्यक्त भी हुआ है कि स्वयं प्रेमचन्द ने जैनेन्द्र और अज्ञेय के कथा-साहित्य को एक नए युग का प्रवर्तक साहित्य स्वीकार किया है।

आचार्य जी ने कहा है कि मैं तो अज्ञेय को एक बड़ा कथाकार-उपन्यासकार मानता ही हूँ। सबसे पहले तो वह एक कहानीकार के रूप में ही स्थापित होते हैं। अज्ञेय के प्रति पहला आकर्षण हिन्दी के पाठकों और आलोचकों का हुआ वह उनकी कहानियों के कारण हुआ जो उन्होंने जेल से भेजी। प्रेमचन्द ने उन्हें प्रकाशित किया। प्रेमचन्द से उस समय जो इंटरव्यू किए गए हैं, अगर आपने देखा हो तो, उनसे जब पूछा गया कि आपके बाद कौन-से कथाकार दिखाई देते हैं, जो हिन्दी कहानी को आगे ले जाएँगे तो उसमें दो नए नाम लगातार आए हैं। जबकि बाकी नाम बदलते रहे हैं। जैनेन्द्र और अज्ञेय ये दो नाम प्रेमचन्द बराबर लेते हैं। आपकी स्मृति अगर हो तो प्रेमचन्द के बाद कहानी का जो युग है वह जैनेन्द्र-अज्ञेय के नाम से जाना जाता है। (रचना का अन्तरंग, पृ. 113) इस तरह से हम पाते हैं कि आचार्य जी के साक्षात्कारों-निबन्धों में हिन्दी साहित्य के इतिहास के लिए बहुत बड़ा खजाना मौजूद है। अतः स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी का साहित्य के इतिहास को लिखने वालों के लिए आचार्य जी का चिन्तन एक नई दिशा दृष्टि देने का कार्य करेगा।

रचना का अन्तरंग के निबन्धों की वैचारिकता में सर्वत्र अहिंसा और संस्कृति के सूक्ष्म-गहन चिन्तन का पाठ मौजूद है। सच बात यह है कि आचार्य जी के अपने विचारों की दृष्टि में संस्कृति मूल्यान्वेषण और मूल्यानुभूति की निरन्तर गत्यात्मक प्रक्रिया है। फिर मनुष्य तो सर्जनात्मकता का वरदान लेकर ही इस पृथ्वी पर आता है इस अर्थ में सर्जनात्मक होना मनुष्य का स्वभाव है। सर्जनात्मकता का गहरा रिश्ता है मूल्य-दृष्टि से और मूल्य-दृष्टि संस्कृति की कोख से जन्मती है। आज के सभी अस्मितावादी विमर्श, जिनसे हम सहमत हैं या असहमत, वे सभी संस्कृति की मूल्यचेतना से नाभिनाल सम्बन्ध रखते हैं। सृष्टि में मननशील मनुष्य ही मूल्य-सृष्टि के वरदान को लेकर आया है। इस दृष्टि से संस्कृति का बुनियादी आधार हैमानव का मूल्य-बोध।

संस्कृति की मूल दृष्टि मूल्यगत प्रक्रिया से जुड़ी रहती है। इसीलिए मूल्यों में आचरण की कसौटी से परिवर्तन होते रहते हैं। हम यह भी पाते हैं कि मूल्यगत प्रक्रिया सनातन है उसकी सनातनता ही निरन्तरता का पर्याय कही जा सकती है। आचार्य जी खूब सोच-समझकर यह सत्य कमाते हैं कि संस्कृति के देशबद्ध रूप को एकमात्र वैधरूप मान लेना संस्कृति की मूल अवधारणा का ही विरोध करना है। अभ्यासवश हम संस्कृति को देश, भाषा, धर्म, सम्प्रदाय से जोड़कर देखते हैं। जैसे हिन्दू संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति आदि।

संस्कृति में विभिन्नताओं को आधार बनाकर अलगाववाद पैदा करना लोक धर्म के प्रति शत्रुभाव नहीं है क्या? क्या इन सभी के भीतर से किसी सनातन और सार्वभौम मूल्य-दृष्टि का अन्वेषण सम्भव हो सकता है? क्या मानव के सांस्कृतिक इतिहास को मूल्य-दृष्टि, मूल्य-सृष्टि, मूल्यान्वेषण की प्रक्रिया के सन्दर्भ में तार्किक ढंग से समझा-समझाया जा सकता है। प्रश्न का यक्ष रूप यह है कि संस्कृति में धर्म की भूमिका का निर्धारण कैसे होगा क्योंकि मानव विज्ञानी तो धर्म को एक प्रकार का मिथ्या विज्ञान घोषित करते रहे हैं।

फ्रायड जैसे मनोवैज्ञानिक धर्म की उत्पत्ति मनुष्य द्वारा अपने त्राणकारी की इच्छा में पाते हैं। सभी धर्मों का अध्ययन करने वाले विद्वान मानते हैं कि सभी धर्मों की ज्ञान-मीमांसा और तत्त्वमीमांसा का सार सर्वस्व यह है कि धर्मों की विभिन्नताओं के भीतर एक आन्तरिक समानता की मूल्य-दृष्टि का बीज मौजूद रहता है। आचार्य जी अपने समस्त निबन्ध चिन्तन में इसी बीजभाव को स्वीकार करते हुए मिलते हैं। उनके विचार में वेदनिष्ठ और अवैदिक दोनों ही प्रकार के धर्म-दर्शनों के केन्द्र में अहिंसा जैसा मूल्य ही स्थायी भाव के रूप में विद्यमान रहा है।

आचार्य जी *संवेदनात्मक सत्याग्रह है कला, कला की जैविक प्रासंगिकता, रचना : माध्यम का रूपग्रहण, आत्म का संवेदनात्मक सृजन, अभेद साधना है संस्कृति* जैसे इस निबन्ध-संग्रह के ज्यादातर निबन्धों में संस्कृति की मूल्य-दृष्टि का अन्वेषण करते पाए

जाते हैं। प्रायः इस अन्वेषण में उन्हें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय, गोविन्दचन्द्र पांडेय जैसे चिन्तक याद आते रहते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के इस कथन का आचार्य जी नया भाष्य करते थकते नहीं हैं कि भारतीय संस्कृति और कोई भी अन्य संस्कृति (अगर संस्कृति शब्द का विश्लेषण बिना कहा ही ना जा सके) विश्वजनीन सत्य की विरोधी नहीं है। (हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग 1, पृ. 221)

सच बात है कि मनुष्य की मूल्य-दृष्टि चाहे स्वतन्त्रता हो या अहिंसा अनुभूत होकर ही अपनी महिमा और महत्ता का उद्घाटन करती है। आचार्य जी को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन भा जाता है कि *सम्पूर्ण सत्य अविरोधी होता है*। जाहिर है कि द्विवेदी जी के लिए सत्य, धर्म या संस्कृति का मूल भाव अविरोध है। अविरोध की साधना ही संस्कृति की साधना है। दरअसल, विरोध-भेद बुद्धि से पैदा होता है और अविरोध अभेदानुभूति से (रचना का अन्तरंग पृ. 51) तभी तो अदम्य आस्थावादी संस्कृति को मनुष्य की जययात्रा के रूप में देखता है।

आचार्य जी अपने निबन्धों में भूलते नहीं हैं कि हिन्दू धर्म के पौराणिक रूप में तो अहिंसा को धर्म ही घोषित किया गया है। जातीय स्मृति का ग्रन्थ *महाभारत* अहिंसा धर्म को *सकल धर्म* और कहीं-कहीं पर *परम धर्म* कहता है। हमारे युग में गाँधी जी, इसी विचार को ग्रहण करते हैं। पुराणों, बौद्ध-जैन ग्रन्थों में जगह-जगह सत्य, धर्म, अहिंसा, नैतिक न्याय मूल्यों की व्याख्या है। हिन्दी के भक्तिकालीन संतों ने इसी चिन्तन परम्परा को आत्मसात करते हुए लोक-धर्म के रूप में *परहित सरस धरम नहीं* है का मन्त्र दुहराया है।

आचार्य जी ने *अहिंसा विश्वाकोश* में संसार-भर के धर्म-दर्शनों को छान मारा है। इस चिन्तन को इतना मथा है कि भेदों में अभेद की दृष्टि को आत्मसात कर लिया है। उनकी इसी दृष्टि का प्रतिफलन है *सर्जनात्मक अन्वेषण के आयाम*। इस विचार स्थापना से यह निबन्ध शुरू होता है कि *किसी भी कलाकार की सर्जन-प्रक्रिया और सर्जनात्मक अवदान की सम्यक् समझ और उसका मूल्यांकन किसी भी तरह की सरल एकरैखिक विधि में नहीं किया जा सकता क्योंकि उनकी सर्जनात्मकता बहुस्तरीय सांश्लिष्टता के रूप में प्रतिफलित होती है*। (वही, पृ. 54)

आचार्य जी को एक साथ हाइजेनबर्ग, विटगेन्स्टाइन, पाल वैलरीयाद आते हैं। और वह कहते हैं कि प्रत्येक कला अन्वेषण ही नहीं, सम्प्रेषण भी है। सम्प्रेषणात्मक अन्वेषण। और वह सम्प्रेषण-कर्म की नैतिकता पर विचार की जरूरत महसूस करते हैं। अज्ञेय को लेकर लिखा है कि *उत्तर अज्ञेय के सृजनलोक में कविता की केन्द्रीयता के कारण हम अक्सर इस बात की ओर पर्याप्त सजगता नहीं बरत पाते कि हिन्दी साहित्य में उनकी स्वीकृति और प्रसिद्धि सर्वप्रथम एक कहानीकार तथा उपन्यासकार के रूप में हुई थी। मैं यहाँ उनकी मनोवैज्ञानिकता, दार्शनिकता या व्यक्ति की गरिमा आदि अवधारणाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण बात कहानी और उपन्यास की संरचना में*

वह सर्जनात्मक रूपान्तर मानता हूँ जिसने इन विधाओं के स्वरूप और संरचना में बुनियादी परिवर्तन घटित कर दिया। अज्ञेय के बाद कहानी स्थूल घटना, चरित्र चित्रण और नाटकीय वर्णनात्मकता में नहीं बल्कि आन्तरिक मनोभावों और अन्तर्द्वन्द्वों के आधार पर विकसित होने के कारण इन्होंने यथार्थ की जगह बहुस्तरीय जटिल और संश्लिष्ट यथार्थ की वाहक होने लगी। (वही, पृ. 56) अज्ञेय के इसी कर्म की परिणति और स्थापना आचार्य जी ने निर्मल वर्मा में देखी है।

वैसे भी निबन्ध लिखना आचार्य जी के लिए अपने को भीतर से खोलकर पढ़ना क्लोज रिडिंग है, चिन्ताओं, प्रश्नों से उलझकर दूर तक साहित्य, दर्शन, इतिहास, राजनीति के सन्दर्भों-रूपकों को सामने लाना है, बदलते हुए युग की मनोभूमिका को तर्कों से गहना है ताकि बहुस्तरीय यथार्थ के अभिप्रायों की गाँठों को खोला जा सके। आचार्य जी के निबन्धों को पढ़ते हुए पाठक को निर्मल वर्मा का यह विचार बार-बार कौंध जाता है कि निबन्ध विद्या एक तरह का चक्रव्यूह है, जहाँ सन्देह और आस्था हर अँधेरे कोने, हर अप्रत्याशित मोड़ पर एक-दूसरे के सामने क्षत विक्षत लहलूहान खड़े दिखाई देते हैं। वहाँ यदि सिनिसिज्म के लिए जगह नहीं है, तो परम विश्वासों की गुंजाइश भी नहीं है। (दूसरे शब्दों में, प्राक्कथन) पूर्व-पश्चिम की संस्कृति सभ्यता की तुलना के कठिन-से-कठिन संकट क्षण में भी, नन्दकिशोर आचार्य अपनी संस्कृति के आत्मबोध को न तो खोने देते हैं, न उसे विसर्जित होने देते हैं। इनमें एक विचारयोगी निरन्तर अपनी धूनी रमाए रहता है। यही कारण है कि पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर छपने वाले उनके निबन्ध अन्य लेखकों के निबन्धों से एकदम अलग होने के कारण अलग व्यक्तित्व बनाते हैं। उनके लिए निबन्ध-सृजन वह लीलास्थल है जिसमें इतिहास, धर्म, दर्शन की द्वाभा और मानव सत्य के तलाश की द्रन्ध क्रीड़ा चलती है। सर्जनात्मक अन्वेषण के आयाम जैसे निबन्ध में वह अज्ञेय के समग्र रचना-कर्म पर निगाह डालने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अज्ञेय के लेखन के बहुत-से पक्ष अभी हिन्दी आलोचना में छुए तक नहीं गए हैं, उन पर विचार करने, नए सिरे से उनका पाठ करने की आवश्यकता है।

अज्ञेय पर विचार करने के पश्चात् उनकी दृष्टि निर्मल वर्मा पर जानी ही चाहिए थी क्योंकि निर्मल वर्मा एक खास अर्थ में अज्ञेय की चिन्तन की राह का सटीक सप्रयाण आगे बढ़ाने वाले चिन्तक रचनाकार हैं। दोनों की मानसिक बनावट में भी गहरा साम्य है। नन्दकिशोर आचार्य, आत्म के निर्मल आलोक में पहले तो स्नान-ध्यान करते मिलते हैं। फिर पाठ का ठेठ ठाठ सामने लाते हैं। सब धर्म सम्प्रदायों के अपने धर्म ग्रन्थ हैं, किन्तु मनुष्य का धर्म-ग्रन्थ सिर्फ यह दृष्टि है, जिसके बिना ईश्वर की अवधारणा असम्भव होती है। ठीक विचार यही है कि धर्म, आत्मा, ईश्वर के विचार को दरकिनार करना आसान नहीं है। आचार्य जी को निर्मल वर्मा के निबन्धों को पढ़ते हुए यह ध्यान में बराबर यह सच आता है कि निर्मल वर्मा के लिए धार्मिक अनुभूति

किसी धर्मतन्त्र का अनुकरण नहीं, बल्कि उस सृष्टि के साथ एकत्व की अनुभूति है जिससे आत्मचेतस मनुष्य के अलगाव ने उस अँधेरे और अकेलेपन को पैदा किया है, जो उसकी वेदना का कारण है और वेदना में ही धर्म का बीज गड़ा है। (वही, पृ. 71)

निर्मल वर्मा के लिए साहित्य की प्रासंगिकता का अर्थ है अकेलेपन का अतिक्रमण उस अकेलेपन का अतिक्रमण जो शेष सृष्टि को अन्य के भाव से देखता है। इस पर आचार्य जी का कथन हैदूसरी तरफ से देखें तो इतिहास अलग करता है अर्थात् अन्य का बोध पैदा करता है और मिथक या स्मृति में अन्य बचता ही नहीं, सम्पूर्ण सृष्टि आत्म हो जाती है। इसीलिए निर्मल वर्मा कहते हैं कि मनुष्य का धर्मग्रन्थ सिर्फ यह सृष्टि ही है। (रचना का अन्तरंग, पृ. 71) निर्मल वर्मा भारतीय और यूरोपीय सभ्यताओं को आमने-सामने रखकर उन्हें लड़ाने-भिड़ाने के पक्ष में नहीं हैं। प्राचीन यूनानी सभ्यता का सोच तो प्रकृति से लयबद्ध था किन्तु ईसाई चिन्तन इस लय में आगे चलकर दरार पैदा करता है।

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के पुनर्जागरण में संशय, अवसाद, पीड़ा के काँटे थे। इसी तरह का अवसाद भारतीय नवजागरण के आरम्भ में था। यह अवसाद गाँधी जी के आने पर दूर होता दिखाई देता है। गाँधी जी का सत्याग्रह जितना किसी अन्य के अन्याय से मुक्त होने की प्रक्रिया है, उससे अधिक अन्य के नैतिक आध्यात्मिक उत्कर्ष और उस अन्य को अपना आत्म समझने की भी प्रक्रिया है। निर्मल वर्मा गाँधी जी के इस आत्मत्व की व्याख्या में प्रवृत्त होते हैं और पाते हैं कि गाँधी ने अन्य के माध्यम से स्वयं को जानने की यूरोपीय पद्धति को उलटकर दूसरे को जान सकने की उस पद्धति को प्रतिष्ठित किया जहाँ स्वयं अपने से यह प्रश्न पूछा जाता है कि मैं कौन हूँ और इसी के सहारे दूसरे को जानने की चेष्टा की जाती है।

मैं कौन हूँ का प्रश्न महर्षि रमण के लिए बुनियादी प्रश्न था और यही प्रश्न दोनों सभ्यताओं के सन्दर्भ में गाँधी जी के लिए यक्ष प्रश्न था। आज निर्मल वर्मा को भारत व्याकुल या हिन्दुत्व का प्रवक्ता कहने वाले भूल जाते हैं कि निर्मल समस्त पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर एक भावयोगी की तरह आत्म की तलाश में निकले थे जिसमें, आचार्य जी ठीक कहते हैं कि, कोई प्रतिपक्षी अन्य है ही नहीं। भारत में राष्ट्रवाद के विकास की औपनिवेशिक परिस्थिति का सम्यक् मूल्यांकन करते हुए निर्मल कहीं भी अलगाववादी प्रवृत्ति से संचालित नहीं होते। वह मानते हैं कि औपनिवेशिक मानसिकता ने ही दोनों में अलगाववाद के जहरीले बीज बोए हैं।

समग्र आत्मबोध की इस अखंड भारतीय परम्परा के सम्पूर्ण भाष्य गाँधी थे, जिन्हें कवि-आलोचक विजयदेव नारायण साही ने लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस शीर्षक से अपने प्रसिद्ध निबन्ध में यह कहकर याद किया है कि गाँधी जी हिन्दुस्तान के लिए गाँधी इसलिए नहीं थे कि वे हमारे विचारों या आदर्शों के प्रवक्ता थे, उनका जोड़ देश के साथ कहीं और भी गहरा था, वे हिन्दुस्तान की जिन्दगी के रिदम (Rythm)

की अभिव्यक्ति थे, इतनी पूर्णता के साथ, जो उस युग में किसी और को प्राप्त नहीं थी, और आगे भी हो सकेगी, कहना कठिन है। (छठवाँ दशक, पृ. 271)

भारतीय चिन्तन परम्परा की गहरी समझ के कारण ही निर्मल वर्मा ने गाँधी, विवेकानन्द, प्रेमचन्द, रेणु, जयप्रकाश नारायण और हजारीप्रसाद द्विवेदी को आत्मबोध के विस्तार में पा लिया है। नन्दकिशोर आचार्य ने निर्मल वर्मा के सृजन और चिन्तन को भीतर से परखने के बाद पाया है कि निर्मल वर्मा का कथालोक इस आत्म के अन्वेषण की अनुभूत्यात्मक प्रक्रिया है और उनके निबन्ध इस प्रक्रिया की तात्त्विक आधार-भित्ति का निरूपण हैं। (रचना का अन्तरंग, पृ. 76)

आचार्य जी ने एक बेहद चौंकाने वाला शीर्षक देकर निबन्ध लिखा है *प्रेमचन्द की आध्यात्मिकता*। आरम्भ इस प्रकार किया *सर्जक के लिए चिन्तक भी होना अनिवार्य नहीं है। क्योंकि उसका चिन्तन तो सर्जन में ही रूपान्तरित होता है और इसी कारण उसे किसी विशेष दर्शन की सीमा में बाँधकर नहीं देखा जा सकता। एकाधिक दर्शन-पद्धतियाँ उसकी सर्जनात्मक संवेदना में घुल-मिल गई होती हैं। लेकिन कुछ लेखक ऐसे भी होते हैं, जो सर्जनात्मक लेखन के साथ-साथ अपने समझ और समाज की समस्याओं पर सतत विचारात्मक लेखन भी करते रहते हैं। प्रेमचन्द के परवर्ती काल में जैनेन्द्र, अज्ञेय पर निर्मल वर्मा, आदि ऐसे ही लेखक हैं।* (वही, पृ. 77)

आचार्य जी ने साफ कहा है कि *प्रेमचन्द दर्शनशास्त्रीय बारीकियों में पड़ने वाले चिन्तक नहीं हैं। उनका मूल प्रयोजन अपने समय और परिवेश के सम्मुख प्रस्तुत समस्याओं पर विचार करना है। लेकिन इस विचार-प्रक्रिया की मूल प्रेरणा एक आध्यात्मिक बोध है जिसकी कसौटी पर वह जीवन को आँकते हैं।* (वही, पृ. 77)

कहना होगा कि आचार्य जी ने आध्यात्मिक बोध को एक प्रतिमान बनाकर प्रेमचन्द को परखा है। हममें से ज्यादातर के लिए आध्यात्मिकता भारतीयता का ही पर्याय रही है। इसी में से भारतीय आधुनिकता का सोच फूट-फूट पड़ा है। आचार्य जी ने पूरे विश्वास के साथ यह मत व्यक्त किया है कि यह केवल संयोग नहीं है कि प्रेमचन्द लगभग अपने सभी विचारात्मक लेखन में नैतिक, आध्यात्मिक जैसे पदों का प्रयोग बीज पदों के रूप में करते हैं। यह आध्यात्मिकता ही वह बीज है जिससे उनकी सामाजिकी अंकुरित-पल्लवित होती है। इसीलिए *स्वराज्य* को अपने सम्पूर्ण जीवन और लेखन की अन्तर्वस्तु मानने वाले प्रेमचन्द उसे पाने का अर्थ अपनी आत्मा को पा जाना मानते हैं। क्योंकि उसी से भारतीय जीवन का पुनरुद्धार सम्भव है और उसका सर्वोपरि साधन है : *स्वावलम्बन अर्थात् अपने देश की सब जरूरतों को अपने आप पूरा कर लेना और स्वाधीन व्यक्ति से उनका तात्पर्य है वह प्राणि जो अपने खेत का अनाज खाता है, अपने काते हुए सूत से कपड़ा पहनता है और अपने झगड़े-बखेड़े अपनी पंचायत में चुका लेता है। महात्मा गाँधी की तरह प्रेमचन्द भी अंग्रेजी शिक्षा को*

हमारी आत्मा को कुचलने वाली तथा हमें कौड़ी का गुलाम बनाने वाली बताते हुए टिप्पणी करते हैं कि जिनकी आत्मा ही दब गई वे स्वराज और स्वाधीनता की कल्पना ही नहीं कर सकते। (वही, पृ. 78)

इस उद्धरण में प्रेमचन्द का वह अध्यक्षीय वक्तव्य भी अन्तर्ध्वनित सत्य के साथ मौजूद है जो उन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन में दिया था कि *साहित्य कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है, और सामंजस्य सौन्दर्य की सृष्टि करता है, नाश नहीं।* आचार्य जी ने विश्लेषण से यह निष्कर्ष प्राप्त किया कि प्रेमचन्द कला को आध्यात्मिक आनन्द की कुंजी मानते हैं। साथ ही यह ध्यान भी दिलवाया कि भारतीय साहित्यशास्त्र में साहित्य का प्रयोजन रसानुभूति के साथ शिवेतरक्षतये रहा है। यही बात रवीन्द्रनाथ और अज्ञेय जी घुमा-फिराकर कहते हैं। प्रेमचन्द ईश्वर में आस्था-विश्वास नहीं रखतेजैनेन्द्र रखते हैं। दोनों अपने-अपने मिजाज से गाँधी-दर्शन में आस्था रखने वाले लेखक हैं। क्या अद्भुत विडम्बना है कि ईश्वर में अविश्वास रखने वाले प्रेमचन्द हस्तरेखाशास्त्र में पूरी आस्था प्रदर्शित करते हैं। (वही, पृ. 81) इस तरह के अनुसन्धानपरक तुलनात्मक दृष्टि के निबन्ध-लेखन में नन्दकिशोर आचार्य बड़े उस्ताद हैं। *गोताखोर* की तरह साँस साधकर गहरे तक गोता लगाते हैं और तह में पड़े विचार के मोती को लाकर पाठक को समृद्ध करते हैं।

पं. विद्यानिवास मिश्र के साहित्य-चिन्तन पर आचार्य जी ने निबन्ध लिखा है *रचना के अन्तरंग की पहचान* इस निबन्ध-संग्रह का शीर्षक इसी निबन्ध से जुड़कर सामने आया है। यहाँ मुग्धभाव से नन्दकिशोर आचार्य ने लिखा है कि पं. विद्यानिवास मिश्र का साहित्य-चिन्तन जितना गहरा और विशद् है उनकी व्यावहारिक आलोचना भी उतनी ही मर्मभेदी और अन्तर्दृष्टिपूर्ण। *सख्यभाव, आत्मीयता की तलाश और समग्र के साथ भावात्मक बोध की जो बात वह अपने साहित्य-चिन्तन में करते हैं, उसी का अनुसंधान वह अपनी व्यावहारिक आलोचना में भी करते हैं। वह यह भी पाते हैं कि भाषा-मर्मज्ञ विद्यानिवास मिश्र हिन्दी को आत्मदान की भाषा मानते हैं। वह इन जनभाषाओं को हिन्दी का स्रोत मानते हैं और उन्हें युगों-युगों के अनुभव की जीती-जागती दीपशिखाएँ कहते हैं।*

भाषा साहित्य की परम्परा के सूत्र संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश से जोड़ते हुए विद्यानिवास पन्त, निराला, अज्ञेय, केदारनाथ अग्रवाल आदि को साहित्यिक सांस्कृतिक परम्परा से जोड़ते हैं। वह साहित्य को काल-खंडों, सम्प्रदायों में विभक्त कर देखने का विरोध करते हैं। पूरे हिन्दी के मध्यकाल को उसकी निरन्तरता में परखते हुए उसे लोकमंगल का युग मानते हैं। भक्तिकाव्य, भक्तिशास्त्र, भक्ति रस के विश्लेषण में विद्यानिवास मिश्र ने अपूर्वता का परिचय दिया है। इस तरह के मूलगामी चिन्तन से नन्दकिशोर आचार्य हृदय-संवाद स्थापित करते हैं। अज्ञेय जी के अभिन्न सखा मिश्र जी को नन्दकिशोर आचार्य ने पूरी तन्मयता से पढ़ा है और उनके चिन्तन से उनका

पूरा साधारणीकरण उनमें घटित हुआ है। आस्वादपरक आलोचना के विद्यानिवास मिश्र हिन्दी में प्रतिमान हैं।

आचार्य जी ने *मुक्तिबोध के सौन्दर्यशास्त्रीय सवाल* शीर्षक निबन्ध में मुक्तिबोध के अन्वेषी व्यक्तित्व की गहराई से चर्चा की है। जीवन-भर मुक्तिबोध साहित्य की वस्तु और रूप कला पर विचार करते हैं। रचनावली में वस्तु और रूप निबन्ध के चार ड्राफ्ट मिलते हैं। उनमें कुछ चीजें समान हैं, कुछ भिन्न। ड्राफ्ट के मंथन से पता चलता है कि वस्तु और रूप के प्रश्न मुक्तिबोध को परेशान करते रहे। प्रश्न उठता है कि क्या वस्तु और रूप के प्रश्नों का वे एक यूनिर्वसल एस्थेटिक्स बनाने का अरमान रखते थे। निबन्धों में वह रचना-प्रक्रिया के तीन क्षणों की बात करते हैं और जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचियों पर प्रहार करने का संकल्प सामने लाते हैं। वह इस सबको वर्गीय चेतना से जोड़ते हैं। समाजशास्त्री कहते हैं कि वर्गीय अभिरुचियों को केवल आर्थिक स्तर पर ही नहीं समझा जा सकता, बल्कि अभिरुचि भी वर्ग का निर्माण करती है और कुछ खास तरह के सौन्दर्य प्रतिमान निर्मित करती है।

आचार्य जी वर्गीय अभिरुचियों की दृष्टि से मुक्तिबोध के रचना-कर्म पर विचार करने का मन बनाकर कहते हैं इस कार्य की सौन्दर्याभिरुचि किस तरह की है? उसका सम्बन्ध किस वर्ग से है? यह प्रश्न भी उठते हैं कि कवि के रूप में मुक्तिबोध की जो सौन्दर्याभिरुचि है और जिस तरह का फार्म वह विकसित करते हैं इसमें और जो *परसोना* वह विकसित करते हैं और समाज में जो सौन्दर्याभिरुचि है, उसमें कुछ तालमेल दिखाई देता है क्या?

आचार्य जी पाते हैं कि सिर्फ वर्गीय चेतना से जोड़कर मुक्तिबोध देखते हैं, तो उसमें कुछ अधूरापन रह जाता है। सार-संक्षेप यह है कि आचार्य जी का यह निबन्ध ग.मा. मुक्तिबोध के चिन्तन पर कई सवाल उठाता है। बेहद असुविधाजनक सवाल जिनसे मार्क्सवादी चिढ़ते हैं और आचार्य जी को भाववादी चिन्तन का निबन्धकार कहते हैं। लेकिन आचार्य जी हैं कि उनकी परवाह नहीं करते। नन्दकिशोर आचार्य के चिन्तन का अटूट विश्वास उनके विरोधियों को बहुत कष्ट देता रहा है।

डॉ. लोहिया और हिन्दी साहित्य आचार्य जी का मौलिक सूझ-बूझ से उपजा अनुसंधानात्मक निबन्ध है। इसी प्रकृति का दूसरा निबन्ध इस संग्रह में है *शल्यः हिन्दी की दार्शनिक सर्जनात्मकता*। हिन्दी के अकादमिक बौद्धिक क्षेत्र में इस ढंग के भारतीय चिन्तकों पर निबन्ध बहुत कम लिखे गए हैं। इस क्षेत्र में आचार्य जी की पहल का विशेष महत्त्व है। पश्चिमी आधुनिकता के अनुकरण से दूर इन निबन्धों में कोई सांस्कृतिक दुचितापन नहीं है। यहाँ आत्माधिकार से मुक्त चिन्तन का खुला प्रवाह है जिसके भीतर से उजली भारतीयता झाँकती मिलती है।

आचार्य जी ने लिखा है कि *हिन्दी समाज और बौद्धिक वर्ग को न केवल इस पर गर्व होना चाहिए कि यशदेव शल्य हिन्दी भाषा की दार्शनिक सृजनशीलता के फल भी है, और माली-भी बल्कि, उससे भी अधिक उसमें न केवल अपने कर्तव्य-बोध बल्कि*

अपने सृजनात्मक स्वातन्त्र्य की इस आवश्यकता का अनुभवबोधक होना चाहिए कि मौलिकता अपनी सर्जनात्मकता की पुष्टि में ही है, अनुकरणगामी बौद्धिक प्रक्रियाओं में नहीं, यदि मौलिकता, सृजनात्मक स्वातन्त्र्य के लिए कोई मूल्य है। (वही, पृ. 106)

महादेवी वर्मा के रचना-कर्म को लेकर हिन्दी आलोचना ने बेहद पीड़ादायक स्थिति का परिचय दिया है। उनकी रचना-दृष्टि पर सांस्कृतिक नवजागरण के प्रकाश में विचार ही नहीं किया गया। केवल इन पर फ्रायडवादी, रहस्यवादी पर्दा डाला गया जिससे उनके चिन्तन को यथार्थ दिया गया। इस पीड़ादायक स्थिति से थककर ही नन्दकिशोर आचार्य ने *महादेवी : स्थूल में सूक्ष्म की तलाश* शीर्षक विचारोत्तेजक निबन्ध लिखा है। महादेवी का एक लम्बा उद्धरण देने के बाद कहा *जिस रचनाकार को रहस्यवादी या जीवन के स्थूल रूप से पलायन करने वाली प्रवृत्ति की पोषक कहकर निन्दा की जाती रही हो, सूक्ष्म और स्थूल से स्वयं उसका तात्पर्य क्या है? इसे जान लेना आवश्यक है।* (वही, पृ. 108)

स्थूल एवं सूक्ष्म की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहा कि दरअसल, रहस्यवाद पद के रूढ़ार्थ ने महादेवी के रचना-संसार के चारों ओर एक कुहासे से घेर दिया है, जिसे भेदकर ही उनके रचना-कर्म तक पहुँचा जा सकता है। ध्यान में रखना होगा कि रहस्यवाद से महादेवी का तात्पर्य किसी योगसिद्ध रहस्यानुभूति से नहीं, बल्कि जीवन की एकता के भाव से है। इस तरह पूरे निबन्ध-चिन्तन में महादेवी की रहस्यानुभूति से तात्पर्य अध्यात्म-बोध लिया गया है, एक बिल्कुल नए विमर्श के साथ। यहाँ आचार्य जी ने एरिकफ्राम के उस विचार का हवाला दिया है जिसमें जीवन-जगत् से एकात्मकता बनाए रखने का सर्वाधिक प्रभावशाली उपाय प्रेम को माना गया है। यह चिन्तन *मानुष प्रेम भयो वैकुण्ठी* चिन्तन का ही विस्तार है जिसमें भाव परिष्कार की उदारता रहती है। आचार्य जी ने गहराई में डूबकर यह विचार व्यक्त किया है कि उनकी आध्यात्मिकतता दरअसल महात्मा गाँधी की आध्यात्मिकता की परम्परा में है जिसमें प्रेम और करुणा भी उतने ही वरेण्य हैं जितना अन्याय से विद्रोह। (वही, पृ. 113)

आज कहा जा सकता है कि महादेवी वर्मा पर लिखा यह हिन्दी में एक अद्भुत निबन्ध है। *सृजन एक संवेदनात्मक अन्वेषण* है शीर्षक निबन्ध में आचार्य जी ने डॉ. ब्रजरतन जोशी से बातचीत में *वैचारिक या सृजनात्मक लेखन में एक नजरिया* पर विचार प्रस्तुत किया है। यह भी माना है कि यह नजरिया सभी जगह प्रतिबिम्बित होता है *चाहे सामाजिक कार्य हो या सृजनात्मक उपक्रम। साथ ही यह भी माना कि स्थूल राजनीतिक-सामाजिक मुद्दों पर लेख तो लिखा जा सकता है, उन पर उत्कृष्ट कविता लिखना सम्भव नहीं।* इस सन्दर्भ में शमशेर के ठोस उदाहरण से अपने विचार को पुष्ट किया है। बड़ी बात यह है कि नन्दकिशोर आचार्य के इन निबन्धों में अमूर्तता नहीं है, धारदार विचारों का मूर्त रूप है और विचार की स्पष्टता एवं तार्किकता के कारण

सम्प्रेषणता कहीं भी बाधित नहीं है। जो विचार, मत या वाद आचार्य को भाता नहीं है, उस पर वे चुप नहीं रहते। शालीन भाषा में अपना विरोध दर्ज अवश्य कराते हैं। कथन का ऐसा संयम हिन्दी निबन्ध में आज बहुत कम नसीब है। *स्वतन्त्रता के अन्वेषी थे अज्ञेय; सृजन एक संवेदनात्मक अन्वेषण और अनुभूत्यात्मक अन्वेषण है साहित्य* जैसे साक्षात्कार हो या *भाषा में अविचार*; हम पाते हैं कि आचार्य जी में मैं का गरजता घन घमंड नहीं है।

एक पक्ष की ओर आपका ध्यान और खींचना चाहता हूँ जैसा कि *विरचनात्मक निर्मित है पाठ* निबन्ध है या उनका निबन्ध है *साहित्य अध्ययन के अन्तर अनुशासनिक तुलनात्मक आयाम*। उनको पश्चिमवाद का दर्शन और समीक्षा सैद्धान्तिकी आर्तकित नहीं करती है। वह अपनी परम्परा संस्कृति की भूमि पर स्थित होकर उस पर विचार करते हैं। *विरचनात्मक निर्मिती है पाठ* का आरम्भ देखिए *एक साहित्यिक सिद्धान्त के रूप में संरचनावाद अर्थ की निश्चितता का अर्थ भाषा की सम्भावनाओं का ही नहीं पढ़त या पाठ की सर्जनात्मकता का भी अस्वीकार है जिसका राजनीतिक प्रतिफलन मानवीय चेतना के विकास की प्रक्रिया को अवरुद्ध हो जाना है।* (रचना का अन्तरंग, पृ. 22) संस्कृति कोई जड़ वस्तु नहीं है। प्रत्येक संस्कृति का अपना निश्चित अर्थ है।

संरचनावादी काव्यशास्त्र या साहित्यिक सैद्धान्तिकी गहरे स्तरों पर सृजनात्मकता को ही अस्वीकार करती है। उत्तर-संरचनावाद की स्थापनाओं में केन्द्रीय अर्थ का अस्तित्व ही नहीं है। आचार्य जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उत्तर-संरचनावाद एक प्रकार की अनेकान्तवादी साहित्यिक सैद्धान्तिकी है। वह इस सन्दर्भ में बौद्ध दर्शन पर विचार करते हैं और जैन दर्शन के अनेकान्तवादी सैद्धान्तिकी पर भी। वह प्रश्न उठाते हैं कि क्या कृति केवल एक खूँटी है जिस पर पाठक अपना अर्थ टाँग देता है? मूल विचार यह कि नन्दकिशोर आचार्य ने देरीदाँ और मिशेल फूको के विचारों से अपनी असहमतियाँ प्रस्तुत करते हुए भारतीय चिन्तकों के विमर्शों को मथा-परखा है। इस तरह वह *बाबा वाक्य प्रमाण* को अस्वीकार करते हैं। विश्व-भर में उठने वाले विमर्शों पर चाहे नारी-विमर्श हो, दलित-विमर्श हो, उनकी निगाह रही है। उनका चौकन्नापन पाठक को इन निबन्धों में चकित करने वाला है।

भाई नन्दकिशोर आचार्य ने *रचना का अन्तरंग* के निबन्धों को चित्त समाधि लगाकर लिखा है। नतीजा यह हुआ कि इन निबन्धों की वैचारिक अन्तर्योजना खंडित नहीं है। इन निबन्धों से साहित्य के पाठकों को चिन्तन की नवीन दृष्टि मिलेगी। आचार्य जी के ये निबन्ध पुनः उन शंकाओं, प्रत्ययों, प्रश्नों की ओर लौटने को प्रेरित करते हैं, जो भारतीय सभ्यता, संस्कृति, दर्शन के केन्द्रीय भाव रहे हैं।

रचना का अन्तरंग : नन्दकिशोर आचार्य, सूर्य प्रकाशन मंदिर, बीकानेर-334005, मूल्य : तीन सौ रूपए।

पुस्तक-चर्चा

भाषा और संस्कृति की साझेदारी**

महेश दुबे*

भाषा मनुष्य की श्रेष्ठतम निर्मिति है। भाषा ने ही मनुष्य को गरिमा प्रदान की है। भाषा सभ्यता के विकास-क्रम की एक महत्त्वपूर्ण शृंखला है। यह सच है कि भाषा का विकास अपने-आप होता है पर इस विकास-क्रम पर भौगोलिक परिस्थितियों, ऐतिहासिक कारणों, आर्थिक व्यवस्थाओं, सामाजिक संरचनाओं और धार्मिक परम्पराओं का भी व्यापक प्रभाव पड़ता है। भारत में सामन्ती व्यवस्थाओं और उसके अन्तर्गत विकसित सामाजिक पद्धतियों पर धर्म का प्रभाव विशेष रूप से लक्षित किया जा सकता है जिसका सीधा असर भाषा के विकास में भी देखा जा सकता है। संस्कृत हमारे लिए देवभाषा है तो उर्दू को नबी की जबान कहा जाता है। इन सन्दर्भों से हिन्दी-उर्दू और दक्खिनी हिन्दी के विकास की गाथा के कई आयाम हैं जिनका आकलन एक व्यापक फलक पर ही सम्भव है।

‘इतिहास का सच और हिन्दी-उर्दू तथा दक्खिनी हिन्दी’ डॉ. कृपाशंकर सिंह की नई पुस्तक है जिसके आठ अनुभागों में इतिहास के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी-उर्दू तथा दक्खिनी हिन्दी के विकास की कहानी के विभिन्न पक्षों और उनके पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार किया गया है। पुस्तक में दिए गए परिशिष्ट-1 में ‘कविता का तिलिस्म’ शीर्षक चौकाता अवश्य है कि भाषा विषयक विश्लेषण में कविता के तिलिस्म पर विवेचना कितना प्रासंगिक है? पर, तभी कॉलरिज का कथन याद आता है कि कविता तो सबसे अच्छी भाषा है। कविता में ही मनुष्य भाषा के स्तर पर सम्पूर्णता प्राप्त करता है। कविता और भाषा एक दूसरे से फूल और गन्ध की तरह

*प्रो. महेश दुबे, 1102, साई-अंश प्लॉट नं. 7, सेक्टर-11, सानपाडा, नवी मुम्बई 400705, महाराष्ट्र; मो. 09322013444

** इतिहास का सच और हिन्दी-उर्दू तथा दक्खिनी हिन्दी, डॉ. कृपाशंकर सिंह, प्रथम प्रकाशन 2011, नमन प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली 110003

अन्तर्गुम्फित हैं। यहाँ डॉ. सिंह का आग्रह है कि कविता की सम्पूर्ण संरचना को एक इकाई के रूप में देखा जाना चाहिए। परिशिष्ट-2 में हमारे समय के अत्यन्त प्रखर और मौलिक आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा की भाषा विषयक मान्यताओं को लेकर विचारोत्तेजक चर्चा की गई है

डॉ. सिंह की इस शोधपरक प्रस्तुति के कुछ मुख्य निष्कर्ष इस प्रकार हैं :

1. खड़ी बोली का उद्गम अपभ्रंश में है।
2. हिन्दी के व्यापक प्रचार और प्रसार में सूफियों ने बहुत मदद की। उनकी हिन्दवी के परिनिष्ठित स्वरूप को ही बाद में हिन्दी का नाम दिया गया। यदि वे फारसी की बजाय देवनागरी में लिखते तो उनका प्रभाव और अधिक होता। खुसरो की कविता में दिल्ली की खड़ी बोली का जो स्वरूप मिलता है, वह आरम्भिक खड़ी बोली का मँजा हुआ सुथरा रूप है।
3. दक्खिनी हिन्दी की रचनाएँ उर्दू के आरम्भिक रूप की नहीं हैं, क्योंकि भाषा के रूप में उर्दू की पहचान 1800 के बाद से ही होती है।
4. हिन्दी और उर्दू मूलतः एक ही भाषा हैं। इनके बीच मतभेद उत्पन्न करने के प्रयास अंग्रेजों के हैं, जो फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना से प्रारम्भ हुए और इसमें प्रो. गिलक्राइस्ट की सक्रिय भूमिका थी। अंग्रेज 'हिन्दू मुस्लिम दो नेशन हैं' के सिद्धान्त को आगे बढ़ा रहे थे और इसलिए जबान में अलगाव पैदा करना जरूरी था। अंग्रेजों ने इस कार्य के लिए मुस्लिम नेतृत्व में से सर सैयद अहमद खाँ को चुना।
5. भारतेन्दु नव जागरण काल में भारतीय अस्मिता के प्रतीक हैं। उनकी रचनाओं में देश और समाज की तत्कालीन दुर्दशा प्रतिबिम्बित होती है।
6. अंग्रेज सरकार हिन्दी और दूसरी भारतीय भाषाओं के पठन-पाठन को हतोत्साहित करने के प्रयास करती रहती थी।

पुस्तक की प्रस्तुति रोचक, प्रभावी और विचारोत्तेजक है। यह एक शोधपरक रचना है, जिसमें लेखक ने पर्याप्त साहित्यिक तटस्थता के साथतर्क और उद्धरणों सहित विश्लेषण और विवेचना प्रस्तुत किया है। पुस्तक की शैली सुसंगत और व्यवस्थित है। डॉ. सिंह अनावश्यक विस्तार से बचते हुए सारगर्भित रूप में अपने लक्ष्य और निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं और हिन्दी के विकास-क्रम का प्रामाणिक विवरण देते हैं अपनी इस संक्षिप्त-सी पुस्तक में जो 'देखन में छोटी लगैपर बात कहे गम्भीर।'

किसी भी युग में भाषा दो स्तरों पर दो प्रारूपों में पाई जाती है। एक तो जन-सामान्य की बोली के रूप में और दूसरी अपने परिष्कृत, परिनिष्ठित साहित्यिक

संस्करण में। इन सन्दर्भों से खड़ी बोली के क्रमिक विकास का एकरेखीय प्रारूप कुछ इस प्रकार से दर्शाया जा सकता है

संस्कृत → जनपदीय पाली → प्राकृत → अपभ्रंश → अवहट्ट → पुरानी हिन्दी → खड़ीबोली

11वीं शताब्दी तक अपभ्रंश का प्रभुत्व शिखर पर था। उसके बाद पुरानी हिन्दी विकसित हुई, जिसने धीरे-धीरे आधुनिक खड़ी बोली का रूप ले लिया।

हिन्दी का आद्य-स्वरूप सिद्धों और नाथों की रचनाओं में देखा जा सकता है। सरहपा या सरोरूह वज्र (8वीं शताब्दी) को हिन्दी का आदिकवि माना जा सकता है। गोरखनाथ (9वीं शताब्दी) की सहज और सरल रचनाओं में उस समय की प्रचलित प्रारम्भिक हिन्दी का स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है। अपभ्रंश और हिन्दी की निकटता का परिचय सरहपा से लेकर नामदेव और कबीर की निर्गुण रचनाओं में देखा जा सकता है जिससे भाषा की एक समृद्ध परम्परा की निरन्तरता की जानकारी तो मिलती ही है, साथ ही हिन्दी के क्रमिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं का भी परिचय मिलता है। विद्यापति ने भी संस्कृत से हटकर अवहट्ट में 'कीर्तिलता' की रचना की है। अनुमान है कि अवहट्ट 14वीं शताब्दी के समय में प्रचलित साहित्यिक भाषा थी। इसे परिनिष्ठित अपभ्रंश के बाद की भाषा माना जाता है। कुछ विद्वान इसे अपभ्रंश का ही एक रूप मानते हैं। जो भी हो अवहट्ट में भारतीय आर्य भाषाओं का पूर्व रूप सुरक्षित है। डॉ. सिंह अवहट्ट को अपभ्रंश से हिन्दी के रूपान्तरण की प्रक्रिया में एक कड़ी मानते हैं। आरम्भिक हिन्दी की रचनाओं में डॉ. सिंह 'प्राकृत पैंगलम' और 'ढोला मारू रा दूहा' का भी उल्लेख करते हैं जिनकी भाषा को पुरानी हिन्दी कहा जा सकता है।

सन्तों की सामाजिक भूमिका की चर्चा करते हुए, डॉ. सिंह हिन्दी के विकास में उनके योगदान को स्वीकार करते हैं। उनका यह भी मानना है कि, मुस्लिम धर्मान्तरण में हिन्दू धर्म व्यवस्था की कोई भूमिका नहीं थी। संतों के प्रभाव से निचली जातियों की एक बड़ी संख्या इस्लाम अंगीकार करने से विरत रही।

नाथ और सिद्धों की रचनाओं से अलंकृत हिन्दी की मिठास ने सूफियों के अन्तरमन को मोह लिया था। उन्होंने इस मिली-जुली भाषा में अपनी रचनाओं के साथ भारत के सामाजिक जीवन में प्रवेश किया। उनकी इस भाषा को फारसी बोलने वाले हिन्दवी कहते थे। यही खुसरो की भाषा थी। बाबा फरीद और शेख हमीदुद्दीन नागौरी की रचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 13वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक आते-आते हिन्दवी पूरी तरह से एक स्वतन्त्र भाषा के रूप में विकसित हो चुकी थी, जो साहित्यिक अपभ्रंश से भिन्न थी। इसी भाषा के परिमार्जित स्वरूप को बाद में हिन्दी का नाम दिया गया। मुल्ला दाऊद की 'चंदायन' और जायसी की 'पद्मावत' में उस युग की भाषा का सुन्दर रूप मिलता है। अब्दुल कुददूस गंगोही (1456-1537)

के 'मुर्शिदनामा' में उनकी हिन्दी रचनाएँ संकलित हैं, जिनमें भविष्य की निखरी हुई हिन्दी की पदचाप सुनाई देती है

आप गँवाये पिउ मिले पी खोवे सब जाय।

अकथ कथा यह प्रेम की जो कोई बूझे पाय ॥

शाह बरकत उल्लाह 'पेमी' की रचनाओं को पढ़कर लगता है कि हिन्दी का प्रास्फुटिक आविर्भाव ज्यादा दूर नहीं था। मैं उदाहरण के लिए उनका यह दोहा यहाँ उद्धृत करना चाहूँगा (यद्यपि डॉ. सिंह ने इसे उद्धृत नहीं किया है)

नर नारी गावैं सबहिं आयो फागुन मास।

हौं अकैलि देखूं जरूँ लेहुं सांस पर सांस ॥

अपनी संरचना, शब्द-विन्यास और अभिव्यक्ति में हिन्दी से इसकी निकटता स्पष्ट है।

नूर मोहम्मद फारसी में 'कामयाब' के नाम से कविता लिखते थे, पर हिन्दी में भी काव्य रचना को महत्त्वपूर्ण मानते थे।

अमीर खुसरो (1236-1324) की भाषा ने खड़ी बोली के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उनकी भाषा को 'जबान-ए-देहलवी' या हिन्दवी कहा गया है। खुसरो की हिन्दवी रचनाएँ लिखित रूप में प्राप्त नहीं होतीं वाचिक परम्परा में लोक-मुख के माध्यम से हम तक आई हैं। इसलिए उनकी भाषा में निरन्तर परिवर्तन होता रहा है।

दक्षिण का साहित्य हिन्दी की बहुत बड़ी निधि है। दक्खिनी, दकनी या दखनी से आशय उस भाषा से है, जिसका प्रयोग दक्षिण के बहमनी वंश तथा बीजापुर, गोलकुंडा और अहमदनगर से सम्बन्धित मुसलमान कवियों और लेखकों ने 13वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी तक किया। यह भाषा इन राज्यों में राज्यभाषा की तरह समादृत थी।

'दक्खिनी हिन्दी' शीर्षक से लिखे अपने सारगर्भित अध्याय में डॉ. सिंह ने दक्षिण भारत में हिन्दी साहित्य की स्थिति की चर्चा की है। उनके अनुसार दक्षिण में हिन्दी

नाथ पंथी योगियों द्वारा

अलाउद्दीन खिलजी से प्रारम्भ हुए सैन्य अभियानों के सैनिक दलों द्वारा, और

मध्य युगीन सन्त समुदाय द्वारा ले जाई गई। इसलिए उस पर उत्तर भारत की बोलियों का प्रभाव है ही साथ ही उसमें तेलगू, मराठी, कन्नड शब्दों के साथ अरबी और फारसी के शब्द भी पाए जाते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस भाषा की लिपि फारसी थी। डॉ. सिंह दक्खिनी के कई साहित्यकारों की रचनाओं से उद्धरण लेकर दक्खिनी हिन्दी के स्वरूप से हमें परिचित कराते हैं। वे श्रीरामशर्मा के कार्य का भी उल्लेख करते हैं और दिल्ली की हिन्दी तथा दक्खिनी हिन्दी के वैयाकरणिक साम्य को

दर्शाते हुए, उसे हिन्दी की एक बोली के रूप में माने जाने पर जोर देते हैं। डॉ. सिंह का मानना है कि, सुलतान मोहम्मद कुल्ली कुतुबशाह (1580-1612) की सरल, आडम्बरहीन, हिन्दू रूपकों की बहुलता और भारतीय उपमाओं से अलंकृत ठेठ हिन्दुस्तानी मिजाज की कविताओं ने फारसी के प्रभाव को दरकिनार करते हुए, दक्खिनी हिन्दी के काव्य को नई ऊँचाइयाँ दीं। इसी क्रम में वे वली को भी याद करते हैं।

डॉ. सिंह ने पर्याप्त तथ्यात्मक सारगर्भिता के साथ और प्रामाणिक उद्धरणों से अपने तर्कों को पुष्ट करते हुए, मुगल शासन में हिन्दी के विकास के प्रयासों को रेखांकित किया है। वे ताटस्थिक स्पष्टता के साथ उर्दू के जन्म और भाषा की राजनीति पर अपने विचार रखते हैं। उन्होंने हिन्दी-उर्दू अलगाव की राजनीति के सन्दर्भ में सर सैयद की भूमिका का निष्पक्षता के साथ विश्लेषण किया है और हिन्दी के नव जागरण काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के योगदान की भी विस्तार से चर्चा की है। अपनी प्रस्तुतियों में ये अनुभाग रोचक ऐतिहासिकता लिए हुए हैं और विचारोत्तेजक भी हैं।

डॉ. सिंह विशेषरूप से नजीर अकबराबादी का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि नजीर जितने उर्दू के कवि हैं, उससे कहीं अधिक वे हिन्दी के समीप हैं। उनकी भाषा को डॉ. सिंह सौ फीसदी हिन्दी मानते हैं। डॉ. सिंह के अनुसार ईस्वी खॉ बहादुर की ललित गद्य रचना की भाषा दक्खिनी और परिमार्जित खड़ी बोली के बीच की शृंखला है।

1857 के एक लोकगीत में कहा गया है

उर्दू लूटा दरीबा लूटा, लूटा मालीवाडा

गुडवालों की कोठी लूटी, लूटा मन्दिर सारा

इससे मालूम होता है कि लाल किले के आसपास का क्षेत्र उर्दू के नाम से जाना जाता था। दरअसल उर्दू मूलतः एक तुर्की शब्द है, जिसका अर्थ है शाही शिविर। अनुमान है कि अपने इसी अर्थ में यह शब्द बाबर के साथ हिन्दुस्तान में आया होगा। अपने इस अर्थ से एक भाषा विशेष की संज्ञा तक इसकी यात्रा का इतिहास लम्बा और रोचक है। शाहजहाँ ने अपनी राजधानी आगरा से दिल्ली बदली और शाहजहाँनाबाद नाम से नई दिल्ली बसाई।

फौज के साथ एक बड़ा बाजार भी हुआ करता थाजिसे 'उर्दू-ए-मुअल्ला' कहा जाता था। यहाँ प्रचलित बोली को ही धीरे-धीरे उर्दू कहा जाने लगा। रेखता, उर्दू का पुराना नाम है, जिसका अर्थ है मिश्रित या मिला-जुला। मुगल शासन में हिन्दवी में फारसी शब्दों के प्रयोग के कारण इसे रेखता कहा जाने लगा था। मौलवी मोहम्मद,

हुसैन आजाद ने उर्दू साहित्य के विकास पर लिखे अपने ग्रन्थ 'आबेहयात' में लिखा है :

“संस्कृत और ब्रजभाषा की मिट्टी से उर्दू का पुतला बना है। बाकी दूसरी जवानों के शब्दों ने खत और खाल का काम किया है।”

मौलवी अब्दुल हक ने भी उर्दू को 'खालिस हिन्दी जवान' कहा है। डॉ. सिंह का मानना है कि उर्दू हिन्दू और मुसलमानों की सम्मिलित जमात से पनपी और विकसित हुई।

डॉ. सिंह उर्दू और हिन्दी के अलगाव के लिए सीधे-सीधे अंग्रेजों को दोषी ठहराते हैं। उनके अनुसार फोर्ट विलियम कॉलेज के गिलक्राइस्ट ने इसे आगे बढ़ाया। सर जॉन गिलक्राइस्ट (1759-1841) उर्दू को हिन्दुस्तानी की दरबारी शैली मानते थे। फोर्ट विलियम में हिन्दुस्तानी के नाम से इसी का अध्ययन-अध्यापन होता था। गिलक्राइस्ट इसे हिन्दी, उर्दुवी और रेखता भी कहते थे। हिन्दवी को वे केवल हिन्दुओं की भाषा मानते थे और उसे गँवारू कहा करते थे। इस भाषायी अलगाव को आगे बढ़ाने के लिए, अंग्रेजों ने मुसलमानों में से सर सैयद अहमद खाँ को चुना और उन्होंने यह कार्य बखूबी निभाया।

1880 के बाद सर सैयद के विचारों में आया विस्मयकारी परिवर्तन हमें चौंकाता है। डॉ. सिंह कहते हैं कि इन परिवर्तनों को राजनीति के एक चतुर और मजे हुए खिलाड़ी के कथन के रूप में लिया जाना चाहिए। वास्तव में सर सैयद ब्रिटिश सत्ता के सबसे प्रबल समर्थक मुसलिम नेता थे। मार्च, 1888 में मेरठ में दिए उनके व्याख्यान की ये पंक्तियाँ उनकी मनोवृत्ति को दर्शाती हैं :

It is therefore necessary that for the peace of India and for the progress the English Government should remain for many years... in fact for ever.

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पर भी ब्रिटिश सत्ता के प्रशंसक होने का आरोप लगता रहता है। डॉ. सिंह, भारतेन्दु की रचनाओं के माध्यम से उनकी व्यंग्यात्मक और प्रतीकात्मक शैली की चर्चा करते हुए, लिखते हैं कि : “भारतेन्दु ने ब्रिटिश सत्ता की जड़ों पर प्रहार करने वाली जो आलोचना की थी, वह अपने आप में बड़ा साहसिक कदम था। उन्होंने अंग्रेजों के फूट पैदा करने वाले हर नीतिगत कदम की भर्त्सना की है।” भारतेन्दु की तेजधार की पत्रकारिता की प्रशंसा करते हुए, वे लिखते हैं : “उनकी साहित्य साधना स्वदेश और समाज के इर्द-गिर्द घूमती है। समाज और देश की चिन्ता उनके लिए सर्वोपरि रही है।”

हिन्दी के विकास में पत्र-पत्रिकाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इन्होंने हिन्दी की शब्द-सम्पदा में वृद्धि की और भाषा की अभिव्यक्ति को नई सम्प्रेषणीयता

प्रदान करते हुए उसे सामाजिक जीवन के यथार्थ से जोड़ा। फलस्वरूप हिन्दी उत्तरोत्तर समर्थ होती गई। पत्र-पत्रिकाओं की स्वतन्त्रता के संग्राम में भी अग्रणी भूमिका थी। ये जन-चेतना और राष्ट्रीय भावना के प्रमुख संवाहक थे। 'उदन्त मार्तण्ड', 'बंगदूत', 'हिन्दी बंगवासी', 'भारतमित्र', 'मतवाला' और 'सरस्वती' जैसी पत्र-पत्रिकाएँ उस समय अत्यन्त लोकप्रिय थीं। देव नागर पत्र ने सभी भारतीय भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि की आवश्यकता पर जोर दिया।

कोई भी कृति अपने आप में सम्पूर्ण नहीं होती। उसमें बहुत कुछ छूट जाता है। पुस्तक में प्रस्तुत सामग्री और उसके विस्तार की सीमा लेखक की वैचारिक स्वायत्तता है। पर पाठक की भी कुछ अपेक्षा रहती है। मैं, एक सामान्य पाठक की हैसियत से अत्यन्त विनम्रतापूर्वक कुछ तथ्यों की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ, जिनका उल्लेख इस पुस्तक में किया जा सकता था

1. सिद्धों की भाषा को 'संध्या भाषा' कहते हुए डॉ. सिंह ने लिखा है कि : 'संध्या से अभिप्राय क्या था, यह बहुत साफ नहीं होता। यहाँ यह उल्लेख करना प्रासंगिक होता कि विधुशेखर शास्त्री और प्रबोधचन्द्र बागची के कार्यों के बाद अब यह माना जाने लगा है कि सही शब्द 'सन्धा' है, जिसका अर्थ है अभिसन्ध युक्त, अभिप्राय युक्त। तान्त्रिक युग में भाषा के मन्त्र प्रधान और रहस्यात्मक स्वरूप को सन्धा भाषा का नाम दिया गया है।
2. 'हिन्दी के विकास की प्रारम्भिक रूपरेखा' में अपभ्रंश की विशेषताओं की चर्चा उसके ध्वनिविकास, व्याकरण और शब्द भण्डार के सन्दर्भों से भी की जानी चाहिए थी।
3. खुसरो के छन्दबद्ध कोश 'खालिकबारी' के सन्दर्भ में यह उल्लेख करना उचित होता कि कुछ लोग इसे 17वीं शताब्दी के जियाउद्दीन खुसरो की रचना मानते हैं।
4. 1398 में कुतुब आलम और शेख अहमद सूफी मत के साथ हिन्दवी भी गुजरात ले गए थे। वहाँ के स्थानीय वातावरण से प्रभावित इस भाषा की एक गुजराती शैली विकसित हुई थी जो गुजरात और काठियावाड़ में प्रचलित थी। हिन्दवी की इस शैली में लिखी गई रचनाओं में खूब मुहम्मद हुसैन की 'खूब तरंग' और अमीम की यूसुफ जुलेखा बहुत प्रसिद्ध हुईं। इसी प्रकार मध्यदेश की भाषा ग्वालेरी भी हिन्दी के विकास-क्रम की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। पुस्तक में इन दोनों शैलियों का उल्लेख उचित होता।
5. डॉ. सिंह ने वली की चर्चा की है। इसी सन्दर्भ में वली के कुछ नए प्रयोगों का उल्लेख प्रासंगिक होता जैसे संस्कृत के चरण-चिह्न से उन्होंने नक्श-ए-कदम

बनाया। कहीं-कहीं वली नक्श-ए-चरन भी लिखते हैं :

*चाहो कि पी के पग तले अपना वतन करो
अव्वल अपस कूँ अजल में नक्श-ए-चरन करो*

इसी प्रकार ईस्वी बहादुर की भाषा मेंसीतल, पवन, कंचन बरन, संचित, स्तुत, कोमलता, कोकिल, सुकुमारता जैसे संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों के प्रयोग की ओर ध्यान आकर्षित किया जाना चाहिए था।

6. डॉ. सिंह लिखते हैं कि 'भाषा की संज्ञा के रूप में उर्दू का प्रयोग कब शुरू हुआ, इस बारे में निश्चयपूर्वक कुछ कहना बड़ा कठिन है।' ग्राहम बेली के अनुसार भाषा के रूप में उर्दू का प्रथम प्रयोग मसहफी (1750-1824) ने किया था

*खुदा रक्खे ज़बाँ हमने सुनी है मीर ओ मिर्जा की
कहें किस मुँह से हम एक मसहफी उर्दू हमारी है*

और उर्दू के अधिकांश विद्वान इससे सहमत हैं। बेली के अनुसार यह शेर 1776 में लिखा गया था। मीर तकी मीर ने 1752 में, दक्षिण के शायर बाकर आगाह ने 1772 में, अली इब्राहीम खॉं ने 1783 में और अता हुसेन खॉं तहसीन ने भी लगभग इन्हीं वर्षों में 'ज़बान उर्दू-ए-मुअल्ला का प्रयोग किया है। इंशा अल्ला खॉं (दरिया-य-लताफत1808) के शब्दों में उर्दू की कहानी कुछ इस प्रकार से कही जा सकती थी

“यहाँ शाहजहानाबाद के खुश बयानों ने मुत्तलक होकर मुतादाद जबानों से अच्छे-अच्छे लफ्ज निकाले और बाजे इबारतों और अल्फाज में तसर्फ करके जबानों से अलग एक नई जबान पैदा की, जिसका नाम उर्दू रखा।”

और अन्त में पुस्तक के शीर्षक के प्रथमांश 'इतिहास का सच' के बारे में

लेखक ने मुस्लिम शासन के प्रारम्भिक दौर की चर्चा करते हुए उन सच्चाइयों की ओर ध्यान आकर्षित किया है, जिनकी चर्चा आमतौर पर भाषाशास्त्र की पुस्तकों में तो की ही नहीं जाती; इतिहास की पुस्तकें भी प्रायः इन तथ्यों को अनदेखा कर जाती हैं। मुसलमानों के आने के साथ, भारत में भाषा और संस्कृति के स्तर पर जो परिवर्तन आए और बाद में जिनके समन्वय से एक नई भाषा और एक मिली-जुली संस्कृति विकसित हुई, उसकी पृष्ठभूमि की कठोर सच्चाइयों में रक्तपात, नरसंहार, लूट-पाट, और बलात् धर्मान्तरण की घटनाओं की छाया है। यही इतिहास का सच है। लेखक ने अल-बिरूनी, इब्न बतूता और अनेक प्रतिष्ठित इतिहासकारों के हवाले से इन तथ्यों की पुष्टि की है। लेखक का मानना है कि मुस्लिम आक्रमणकारियों के कत्लेआम

से भयभीत हिन्दू बड़ी संख्या में इस्लाम अपनाने को मजबूर हुए। इसका हिन्दू धर्म की वर्ण या जाति व्यवस्था से उत्पन्न असंतोष या उत्पीड़न का कोई लेना-देना नहीं था। धर्मान्तरण के विशुद्ध राजनीतिक कारण और प्रभाव थे।

डॉ. सिंह सूफियों के कट्टरपन की ओर भी ध्यान आकर्षित करते हैं। चिश्तिया, सुहारावर्दी और नक्श बन्दी सूफी हिन्दुओं से नफरत करते थे। अब यह तथ्य स्थापित हो चुका है कि मुइनुद्दीन चिश्ती ने ही शहाबुद्दीन गोरी को भारत पर आक्रमण करने के लिए बुलाया था।

डॉ. सिंह सर सैयद के 1859 के पैम्फलेट असबाब-ए-बगावत-ए-हिन्द का उल्लेख करते हुए संकेत करते हैं कि इसमें हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों में दरार पैदा करने के नुस्खे थे। दरअसल भाषा की राजनीति का ऐतिहासिक सच पूरी पुस्तक में यत्र-तत्र-सर्वत्र है। तथ्यों का यह स्वरूप भी पाठकों के सामने आना चाहिए। इस ऐतिहासिक सच को लिखते हुए लेखक ने अत्यन्त संयम के साथ ऐतिहासिक तथ्यों का सप्रमाण उल्लेख किया है।

अपनी समग्रता में यह एक पठनीय पुस्तक है जिसमें विचारोत्तेजक और तथ्यपरक सामग्री है। लेखक की दृष्टि में वैज्ञानिकता है और प्रस्तुति में शोधपरक प्रवृत्ति है। विश्वास किया जाना चाहिए कि हिन्दी के सुधी पाठक इस कृति का स्वागत करेंगे।

ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान का समन्वय*

मृत्युंजय उपाध्याय**

प्रश्नोत्तर की परम्परा अत्यन्त पुरानी है। ज्ञान के व्यापक प्रचार-प्रसार में इसकी महती भूमिका है। प्रश्नकर्ता अनेक हैं। प्रश्न अनन्त हैं पर उत्तरदाता त्रिभुवन में दुर्लभ हैं। एक श्लोक में कहा गया है :

अर्थिप्रश्नकृतौलोके सुलभे तौ गृहे गृहे ।

दाता च उत्तरदशयौव दुर्लभे पुरुषो भुवि: ॥

अर्थात् याचक और प्रश्नकर्ता घर-घर में आसानी से उपलब्ध हैं पर दाता और उत्तरदाता तीनों भुवनों में दुर्लभ हैं। प्रश्नोत्तर-दाता आचार्य निशान्तकेतु ऐसे ही महापुरुष हैं जिन्होंने अपनी प्रखर प्रज्ञा से प्रश्नोत्तर द्वारा ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान का समन्वय प्रस्तुत किया है। महाभारत प्रश्नोत्तर की परम्परा का आदर्श उदाहरण है। यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद में एक सौ छब्बीस प्रश्न हैं। उनमें एक प्रश्न है :

किंस्विद गुरुतरं भूमे: किंस्विदुच्चतरं च खात् ।

किंस्विच्छीघ्रतरं वायो: किंस्विद बहुतरं तृणात् ॥

यक्ष का प्रश्न थापृथ्वी से भी भारी क्या है? आकाश से भी अधिक ऊँचा क्या है। वायु से भी अधिक तेज चलने वाला क्या है। और तिनकों से भी अधिक संख्या क्या है। युधिष्ठिर समुचित उत्तर देते गए और यक्ष प्रसन्न हो गए। वरदान दिया।

समुद्र ज्ञान का सागर है और वही ज्ञान की गोपनीयता भी है। प्रश्नोत्तर के रूप में समुद्र से चौदह रत्न प्राप्त हुए थे। महाभारत प्रश्नों का भंडार ही होता है। आदि

* सर्वतोष प्रश्नोत्तर-शतक(आचार्य निशान्तकेतु से साक्षात्कार और सौ प्रश्नोत्तर) लेखक पंडित सुरेश नीरव, प्रथम संस्करण 2010 निर्मल पब्लिकेशन्स, ए-139, गली न. 3 कबीर नगर, दिल्ली-110094, डिमाई, पृष्ठ 170, मूल्य दो सौ पचास रुपए मात्र (सजिल्द)

** प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, वृन्दावन, मनोरम नगर, एल. सी. रोड, धनबाद 826001, झारखण्ड, मो. 09339088307

शंकराचार्य ने दिग्विजय के समय जो शास्त्रार्थ किया था, वह प्रश्नोत्तर ही था। प्रश्नोत्तर में ज्ञान का तात्त्विक रूप समझ आता है। न्यूटन का गति सिद्धान्त यहाँ अक्षरशः लागू होता है। क्रिया-प्रतिक्रिया, अन्तर्क्रिया का समन्वय प्रश्नोत्तर में ही देखा जाता है।

इस कृति में 13 प्रश्न गुच्छ हैं जिन्हें इस प्रकार विन्यस्त किया गया हैसिस्सुक्षा और रचना-प्रक्रिया, व्यक्तिगत जीवन, व्यक्तित्व और सर्जना, मानव-संसाधन विकास : शोध-निर्देशन, तन्त्र की सत्ता, हिन्दुत्व और धर्म, हिन्दी, भाषा और साहित्य, जन संचार : और चौथा स्तम्भ, सभ्यता और संस्कृति, राष्ट्रीयता और राजनीति तथा बाजारवादी लेखक के व्यक्तित्व एवं रचना-प्रक्रिया से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर से पता चलता है कि किसी व्यक्ति के ज्ञान-संस्कार और साधना का उनके उत्तर पर कितना व्यापक प्रभाव पड़ता है। जब लेखक से उनके शब्द-जुड़ाव के बारे में पूछा जाता है तो उनका उत्तर कितना शास्त्रसम्मत और अनुभवात्मक है : “पिताश्री हिन्दू-धर्म के कर्मकाण्ड के सिद्ध साधक तथा सामाजिक अनुष्ठानों के आचार्य थे, जिनकी प्रेरणा से मैंने शैशवकाल में ही ‘अमरकोश’ और ‘वाक्यपदीयम्’ के प्रथम काण्ड को प्रायः कंठाग्र कर लिया था। फिर स्कूल के विभिन्न स्तरों पर संस्कृत के कुछ विद्वान और अधीनी शिक्षक मिले, जिन्होंने मुझे सदैव स्नेहपूर्ण प्रेरणा दी।” (पृ. 54)

उन्होंने इस सुभाषित को व्यवहार में उतारा जिससे उनके पांडित्य में वृद्धि होती गई। सुभाषित इस प्रकार है :

गुरु-शुश्रूषया विद्या ।

पुष्कलेन धनेन वा ।

अथवा विद्यया विद्यया ।

शोध-निर्देशन तथा शोधानन्द सम्बन्धित प्रश्न पर उनका उत्तर है :

“शोध-निर्देशन तो ज्ञान का शोधमूलक प्रक्रम होता है। इस प्रक्रिया में मुझे और अधिक आनन्द आता। शास्त्र वचन है : इन्द्रिय-भोग से ज्ञान अधिक आनन्ददायक है। इस ज्ञान से भी परोपकार बड़ा है। ‘अध्यापन’ ज्ञान तथा परोपकार का एकाश्रित अधिष्ठान होता है। मैं इस यज्ञशाला का क्रत्विक, अध्वर्यु, होता और उद्गाता सब था।” (पृ. 59)

वर्तमान शिक्षा-पद्धति में सम्पूर्णता एवं सर्वांगीणता नहीं है और इसे सर्वांगीण बनाने के क्या उपाय हो सकते हैंइस प्रश्न के उत्तर में आचार्य का मानना है :

“शिक्षा व्यक्ति-सशक्तीकरण-प्रक्रिया है। इसके तीन आधार हैंशारीरिक विकास, बौद्धिक विकास तथा आध्यात्मिक विकास। इन तीनों में केवल बौद्धिक विकास को महत्त्वपूर्ण मानकर शेष दोनों को उपेक्षित कर दिया गया है। (पृ. 64)

नतीजतन मस्तिष्क विकसित हो गया पर शरीर दुर्बल रह गया और अध्यात्म के अभाव में शान्तिहीनता की स्थिति उत्पन्न हो गई। यह शिक्षा न तो सम्पूर्ण है न

सर्वांगीण ही विद्या का निहितार्थ है 'सा विद्या विमुक्तये।' अर्थात् वास्तविक विद्या वह है, जो अध्यात्म की ओर उन्मुखीन कर मुक्ति दिलाए। अग्निपुराण में विद्या को पृथ्वी का सर्वोच्च-शिखर-शृंगार कहा गया है :

“नरत्वं दुर्लभं लोक विद्या तत्र सुदुर्लभा।”

मन्त्र, तन्त्र की सत्ता, साधना और परिणति के सम्बन्धों में प्रश्न पूछने पर उनका उत्तर है :

“मननात् गायते इति मन्त्रः। मन+ ष्टन= मन्त्रः। इसकी दूसरी व्युत्पत्ति है मन्त्र+ अच्= मन्त्र अर्थात् मनन करने से जो कल्याणकारी सिद्ध हो, उससे मन्त्र यन्त्र कहते हैं। इसकी दूसरी व्युत्पत्ति है यन्त्र+ यच्= यन्त्रम्। यम का अर्थ होता है सीमित करना, परिमित करना, दृश्यान्तरित करना इत्यादि।” तन्त्र का अर्थ होता है तानना, फैलाना, विस्तृत (पृ.82) करनातन् + ष्टन= तन्त्रम् (तनोति इति तन्त्रः)। इसकी दूसरी व्युत्पत्ति है तंत्र + अच्= तंत्रम् (तंत्रयति इतितंत्रम्) अर्थात् जो अनुशासित करे, वह तन्त्र है। इसी प्रकार मन्त्र का अर्थ मनन है, यन्त्र है परिसीमन और तन्त्र विस्तारण। मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र के त्रिकोण में आगम-शास्त्र और आगम-साधन की परम्परा है।

लेखक के अनुसार मन्त्र-साधना और जपयोग निराकार ब्रह्मोपासना है, जबकि यन्त्र-साधना और यन्त्र पुरश्चरण साकार ब्रह्मोपासना। अभीष्ट सिद्धि के लिए दोनों का समान महत्त्व है।

स्थान-शुद्धि के पश्चात् देह-शुद्धि होती है। देवता की पूजा, आराधना देवता बनकर ही की जाती है। तभी वह पूजा स्वीकार होती है। शास्त्रोल्लेख है :

देवो भूत्वा देवं यजेत्।

यज्ञो भूत्वा यज्ञमासीद्।

शिवो भूत्वा शिवं यजेत्।

देहो देवालयः प्रोक्ते, जीवो देव सनातनः।

भाषा की दृष्टि से विचार किया जाए तो दो प्रकार के मन्त्र मिलते हैं—संस्कृत के मन्त्र दूसरे पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती तथा अन्य संस्कृतेतर भाषाओं के मन्त्र, जिन्हें 'शावर-मन्त्र' की संज्ञा दी जाती है।

धर्म की बात चलती है तो उनके अनुसार सबसे बड़ा धर्म है राष्ट्रधर्म और देश के लिए बलिदान होनेवाले हैं सबसे बड़े धार्मिक। शहीदों से सबसे बड़ा धर्मावलम्बी उनकी दृष्टि में कोई नहीं है। मुझे माखनलाल चतुर्वेदी की कविता 'मैं हूँ एक सिपाही' की पंक्तियाँ याद आ जाती हैं :

नित्य शीश का दान, रक्त तर्पण भर का है ज्ञान

एक लड़ने तक मेहमान, पूँजी है तीर कमान।

तन्त्र को साधना का वाममार्ग कहा जाता है और ऐसी मान्यता है कि इसमें तमाम मारक विधियाँ समाहित हैं जिनका अधिकांशतः प्रयोग अघोरी-वर्ग के साधक करते हैं—इस प्रश्न के उत्तर में लेखक का मानना है कि तन्त्र में दोनों मार्ग हैं—दक्षिण वाम। जैसे बायाँ-दायाँ। एक पथ से उत्तरी ध्रुवान्त पर पहुँचते हैं तो दूसरे पक्ष से दक्षिण ध्रुवान्तर पर। इन्हीं दोनों से पृथ्वी-ग्रह संचालित होता है। तन्त्र-विज्ञान में दुष्टों से आत्मरक्षा के लिए मारणादि षट्कर्मों का विकास किया गया। कोई इसका दुरुपयोग करे तो उसका फल मिलेगा उसे।

मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध और उसकी प्रासंगिकता सम्बन्धी प्रश्न पूछने पर उनका उत्तर है :

“मन्त्र आत्मा या प्राण है, यन्त्र विग्रह या देह है और तन्त्र एक पद्धति या प्रक्रिया है। इसलिए तीनों का अन्तःसम्बन्ध अपृथक्करणीय है। देह के बिना आत्मा की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। उसी प्रकार आत्मा के बिना देह का कोई अस्तित्व नहीं है। दोनों के संचलन-संचालन की एक प्राकृतिक प्रक्रिया है। दूसरे शब्दों गणित की भाषा का प्रयोग किया जाए तो मन्त्र बीजगणित है, यन्त्र रेखागणित और तन्त्र गणित की पद्धति है।” (पृ. 95)

‘हिन्दुत्व और धर्म’ पर उनकी मान्यता स्पष्ट है, नीर-क्षीर विवेक-सम्पन्न। चार वर्णों का विधान है। गीता में कृष्ण कहते हैं—‘चार्तुवर्ण्यमया कृत्वा कर्म विभागशः’ मैंने गुण, कर्म के आधार पर चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) का विभाजन किया है। ‘मनुस्मृति’ में कहा गया है :

“जन्मना जायते शूद्रः कर्मणा विप्र समुच्चते।”

सच पूछिए तो प्रत्येक व्यक्ति इन चारों वर्णों में विभागशः जीता है। मस्तिष्क ब्राह्मण है जहाँ चिन्तन-मनन का कार्य होता है। स्कन्ध और भुजाएँ क्षत्रिय हैं जो पूरे शरीर की रक्षा करते हैं। कटि प्रदेश का शरीरांग वैश्य कहलाता है क्योंकि पूरे शरीर के पोषण के लिए भोजन आदि की व्यवस्था के साथ जनन-प्रजनन का लोक-व्यापार इसी से सम्पन्न होता है और चरण शूद्र इसलिए क्योंकि इनसे गतिचक्रीय सेवा का काम लिया जाता है।

उनके अनुसार धर्म चाहता है आस्था जिसका आधार है परम्परा संस्कार, अभिरुचि, व्यक्तिगत मान्यता आदि। अध्यात्म धर्म की अन्तिम मंजिल है।

भाषा और साहित्य सम्बन्धी प्रश्नोत्तर के गुच्छ में वह साहित्योद्देश्य को व्याख्यायित करने के लिए आचार्य मम्मट का श्लोक “काव्य यशसेऽर्थ कृते व्यवहार विदे...” उद्धृत करते हैं जो सर्वमान्य है। तन्त्र, मन्त्र, यन्त्र साधना साहित्य, वेद, पुराण आदि से सम्बन्धित सारे प्रश्न सटीक हैं और उत्तर प्रामाणिक, शास्त्रसम्मत लेखक के प्रकांड पांडित्य का प्रमाण प्रस्तुत करने वाले इस एक कृति से ही आर्षग्रन्थों का सम्यक् अनुशीलन हो जाता है इसके लिए ऋषि वाणी है—‘पश्य देवस्य काव्य न ममार न जीयते।’

पाठकीय प्रतिक्रिया

‘चिन्तन-सृजन’ में रचनाएं निरन्तर हृदय की गहराइयों को छू लेने की क्षमता रखती हैं। वर्ष-9 अंक-4 में डॉ. जगमोहन सिंह राजपूत के संक्षिप्त लेख “परिवर्तन के प्रजातंत्र का सच” में जनता चयनित प्रतिनिधियों के नैतिक, वैचारिक तथा आचार में हुये कार्याकल्प का ठोस तथा वास्तविक वर्णन यथार्थपूर्ण है। उनके द्वारा “अधिकार” को सर्वोच्च स्थान देना एक सार्वजनिक तथ्य है। 50-60 के दशक के सभी स्तरों के जन-प्रतिनिधियों तथा उनके वर्तमान अवतार की सोच, सादगी, कर्तव्य तथा त्याग के प्रति दृष्टिकोण में धरा और नभ का अन्तर है। इसका मुझे व्यक्तिगत अनुभव है।

डॉ. शंकर शरण का लेख “डॉ. अम्बेडकर की मुस्लिम राजनीति” अल्पसंख्यकों की वर्तमान राजनीति पर क्षमरहित प्रकाश डालता है। डॉ. शंकर की प्रस्तुति सदैव की भांति पैनी दृष्टि एवं स्पष्टवादिता से भरपूर है। पूरे समाज का अथक प्रयास इस दिशा में होना चाहिये कि देश के विभिन्न वर्गों/समुदायों को जोड़ा जाय। मतों की राजनीति का सार्वजनिक उद्देश्य जो भी हो पर उसका फल इसके विपरीत है।

यह विडम्बना है कि वर्ष 1832 में अंग्रेजों ने समान अपराधिक कानून में सभी समुदायों को आच्छादित कर लिया, परन्तु स्वाधीन भारत में हम संविधान के दिशानिर्देश एवं उच्चतम न्यायालय द्वारा व्यक्त निर्देश के होते हुये भी इस दिशा में एक पग भी आगे नहीं बढ़ पाये।

मैं इस त्रैमासिक का कृतज्ञ हूँ कि भूत, वर्तमान तथा भविष्य के महत्त्वपूर्ण विषयों पर निरन्तर गहन विचार के फलस्वरूप गंभीर विप्लेशणात्मक लेखों से भरपूर प्रस्तुति उपलब्ध करा रही है।

एस. वी. एम. त्रिपाठी, पूर्व महानिदेशक,

उ.प्र. पुलिस तथा के.रि.पु.ब.,

पूर्व सदस्य उ.प्र. मानव अधिकार आयोग,

बी-3/481, विशाल खण्ड, गोमती नगर, लखनऊ।

‘चिन्तन-सृजन’ (अप्रैल-जून 12) के संपादकीय में परसाई के बहाने आपने “वैचारिक धुंध” को छँटने का जो उपक्रम किया, उसने बहुत प्रभावित किया। परसाई ने एक

जगह लिखा था “कबीर की बकरी एक मंदिर में घुस जाती थी। पुजारी ने शिकायत की कि तुम्हारी बकरी मंदिर में घुस कर चीजें बिखरा देती है। इसपर कबीर ने कहा “वह जानवर है, इसलिए मंदिर में आ जाती होगी, मैं तो नहीं आता।” इस प्रकार की काल्पनिक कथा को कबीर के नाम से जोड़कर परसाई ने एक प्रकार से कबीर के नाम का दुरुपयोग तो किया ही, मंदिर जाने वालों को जानवर बताया (मस्जिद जाने वालों को नहीं।) यह मार्क्सवादी दृष्टि है!

मुझे हमेशा आश्चर्य होता है कि मार्क्सवादियों के दबाव या आतंक के कारण म.प्र. में भाजपा शासन के रहते यहाँ म.प्र. साहित्य अकादमी प्रतिवर्ष हरिशंकर परसाई और मुक्तिबोध की स्मृति में कार्यक्रम करती एवं पुरस्कार देती है। मुक्तिबोध ने तो राम और कृष्ण के “श्याम रंग” को वर्णशंकरत्व का प्रमाण बताकर हिन्दू जाति को अपमानित किया था।

निवेदन है कि चिन्तन-सृजन में सांस्कृतिक यात्राओं पर आधारित आलेख भी दिये जाएँ। संभव हो तो अन्य विधाओं की श्रेष्ठ रचनाएं भी इसमें शामिल की जाएँ।

- गोविंद कुमार ‘गुंजन’, कवि, ललित निबंधकार एवं समीक्षक;

उत्तरायण 18, सौमित्र नगर, सुभाष स्कूल के पीछे,

खण्डवा-450001 (म.प्र.)

अप्रैल-जून 12 के चिन्तन-सृजन में “वैचारिक धुंध” शीर्षकांतर्गत बताया गया है कि किस प्रकार कुछ तथाकथित विद्वान ज्ञानाभाव में फुँफकारते हैं और अपनी हताशा-निराशा दूसरे पर लादना चाहते हैं। क्या नामवर द्वारा कमल किशोर गोयनका के प्रेमचंद पर ऐतिहासिक कार्य की अवहेलना और उन्हें नकारना उनकी ही बुद्धि का दिवालियापन नहीं है? तरुण विजय का हिंदू धर्म की तीखी आलोचना इसी की कड़ी है। *तुलानात्मक साहित्य: विकासत्मक स्वरूप* में डॉ. शीतांशु ने बताया है कि एक सही तुलनात्मक अध्ययन केवल प्रभाववादिता का अध्ययन नहीं होता, वह तद् रूपता (Identity), सादृश्य (Similarity), विसादृश्य (Dissimilarity) और व्यतिरेकता (Contrastivity) का अध्ययन भी होता है। आज विश्वविद्यालयों में जो तुलनात्मक शोध हो रहे हैं, शोध की जो दुर्दशा है, शायद यह लेख उनके लिए दृगोन्मीलक हो। लेखक का प्रकांड पांडित्य सर्वत्र झलकता है। वराह मिहिर के गणित ज्योतिष परशोधपरक मीमांसा की है महेश दुबे ने। इस दिशा में शोध करनेवाले वैश्वानरों के लिए यह कल्पतरु है। आयुर्विज्ञान, जल विज्ञान, रसायनशास्त्र, वास्तुशास्त्र में उनकी विशेषज्ञता का विवेचन प्रामाणिक है। ऐसा लेखपत्रिका का गौरव है।

- प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, धनबाद।

आपके द्वारा प्रेषित 'चिन्तन-सृजन' का अप्रैल-जून 12 अंक मिला। बेबाक तथा चिन्तन-सृजन उत्साही सम्पादकीय पढ़कर मेरे पाठक को चिंतक की खुराक और खीझ दोनों मिलती है। खीझ इसलिए होती है कि 'जलेस'-प्रवेश जो भी प्रलाप करते रहें, परन्तु हमारे नेतृवर्ग, जिनसे राष्ट्र को दिशा मिलती है, राष्ट्र विकास पथ पर अग्रसर होता है, वे राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में क्यों नहीं सोचते? क्यों धृतराष्ट्र की तरह आचरण करते हैं?

श्री शंकर शरण का आलेख 'डॉ. अम्बेडकर और मुस्लिम राजनीति', वर्तमान भारतीय राजनीतिक परिदृश्य का मुकम्मल बयान-सा है। काश! हमारे राजनीतिज्ञ एवं सरकारों इसे पढ़ते और इसके परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीय नीति बनाते ताकि सामासिक भारत का समन्वित विकास हो पाता और साम्प्रदायिकता कभी सिर न उठा पाती। इस आलेख में निम्नांकित उपशीर्षकों से प्रस्तुत तथ्य साधारण बुद्धिवालों की भी आँखें खोलनेवाली है "बराबरी नहीं, वरिष्ठता की माँग, केवल एक समुदाय की सुरक्षा, हिन्दू नासमझी, मुस्लिम वैश्विक समुदाय है, अल्पसंख्यक नहीं आदि। जान बूझकर आँख बन्द किये सत्ता-सुख लुटेरों को भगवान सद्बुद्धि दें।

'रमेशचन्द्र शाह: आधुनिक भाव बोध के कवि', समीक्षात्मक लेख भी पठनीय है। चिन्तनीय भी है। "प्रो. शाह जैसे अपेक्षाकृत गंभीर और महत्त्वपूर्ण कवि की कविताई को चर्चा से परे रखने के साहित्यालोचकों की दुरभिसंधि में छेद भी लगाता है"। यह टिप्पणी सटीक है। लेखक पाण्डेय जी ने सही पड़ताल की है। दरअसल हिन्दी भाषा के साहित्यकारों और उसके प्रादेशिक भाषाओं के साहित्यकारों का सहज स्वभाव सा देखा जाता है कि वे चौंसठ खूँटे और चौबीस खेमों में बँटे होते हैं। इससे साहित्य की क्षति होती है। शाह जैसे साधक साहित्यकार मान-सम्मान के लिए साधना नहीं करते। सूर-मीरा, तुलसी किसी अन्य को रिझाने के लिए नहीं गाते। समय सबसे बड़ा समीक्षक है।

प्रो. पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' की कृति 'उत्तर आधुनिकता: बहुआयामी संदर्भ', की समीक्षा, जो पूर्वग्रह के सम्पादक प्रो. रमेश दवे के द्वारा की गई है, समझ बढ़ाती है। पत्रिका के अन्य लेख भी पठनीय हैं। सबों के प्रति साधुवाद और श्रीकृष्ण जन्माष्टमी की शुभकामनाएँ -

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
ध्यान्तु भूतानि शिवं मिथोधिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे
आवेश्यतां नो मतिरप्यहेतुकी ॥

- भाग- 5/18/7

(विश्व का कल्याण हो। दुष्टों की बुद्धि भी निर्मल हो ताकि वे भी प्रसन्न रहें (दुष्ट बुद्धि दूसरे को तो परेशान करती ही है, खुद को भी चैन से नहीं रहने देती) मन शिवसंकल्पी हो और बिना हेतु-सेतु के कृष्णार्पित हो।)

- डॉ. शोभाकान्त झा, कुशालपुर, रायपुर-492001 (छत्तीसगढ़);
सम्पादक: लोक मंगल।

'संचेतना' पत्रिका (संपादक: डॉ. महीप सिंह), मार्च 2012 (प्रकाशित जून 2012), वर्ष 42, अंक-1, पूर्णांक 199 (पृष्ठ 53) में प्रकाशित सुरेन्द्र तिवारी के लेख "कुछ विचारधर्मी पत्रिकाएँ" से :

वैचारिक रचनाओं को प्रकाशित करने वाली पत्रिकाएँ हिन्दी में बहुत कम हैं। इस कमी को 'चिन्तन-सृजन' (संपादक : बी.बी. कुमार, 23/203, ईस्ट एण्ड अपार्टमेंट, मयूर विहार फेस-1 विस्तार, दिल्ली-96) पत्रिका बहुत कुछ दूर करती है। 'चिन्तन' को पूर्णतः समर्पित इस पत्रिका के जनवरी-मार्च 12 के अंक में रमेश चंद्र शाह का 'हिन्दी साहित्य में सांस्कृतिक स्वाधीनता की चुनौती', मोहन पिल्लै का 'सांप्रदायिकता बनाम भारतीयता', दिनेश मणि का 'बदलते परिवेश में शिक्षा की चुनौतियाँ', श्रीराम परिहार का 'दरकती धरती पर चिंतन-बीज-मंत्र: अज्ञेय', शंकर पुणतांबेकर का 'कला' आदि रचनाएं सोच को नया आयाम देती हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' ने स्वर्गीय कुमार विमल पर बहुत ही आत्मीय ढंग से संस्मरण लिखा है- 'कुमार विमल: अमरत्व का वरण'। आलोचना के क्षेत्र में कुमार विमल का अपना एक अलग रंग था। शीतांशु जी के इस कथन को मैं दोहराना चाहूँगा कि 'उनकी सैद्धांतिक और सर्जनात्मक दोनों प्रकार की आलोचना से न केवल आलोचना के क्षेत्र में आनेवाले प्रशिक्षु बल्कि वर्षों से इस क्षेत्र में संलग्न रहनेवाले आलोचक भी बहुत कुछ सीख सकते हैं। इस पत्रिका में पुस्तक समीक्षाओं को विशेष स्थान दिया जाता है यह भी प्रशंसनीय है। समीक्षा के नाम पर सिर्फ खानापूर्ति नहीं, बल्कि कृतियों का सही मूल्यांकन हो, यह सजगता यहाँ नजर आती है।

- सुरेन्द्र तिवारी, बी-3/76, सेक्टर-16, रोहिणी,
नई दिल्ली-110 089।

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंको में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नई पुस्तकें/पत्रिकाएँ:

पुस्तकें

कथा सनातन, रमेशचंद्र शाह; प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006; प्रथम संस्करण 2012; पृष्ठ: 160; मूल्य: 225/- रुपये।

विसंरचनात्मक आलोचना : अर्थ की सर्जना, पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'; प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 337, चौड़ा रास्ता, जयपुर-302003; प्रथम संस्करण : 2012; पृष्ठ: 208; मूल्य: 425/- रुपये।

उत्तर पूर्वांचल के लोकोत्सव, डॉ. भूपेन्द्र रायचौधरी; प्रकाशक: भगवती प्रकाशन, मकान नं. 8, प्रथम तल, गरीमा मिलेनियम, जी.एन.बी. रोड, पान बाजार, गुवाहाटी-781001; प्रथम संस्करण: 2012; पृष्ठ: 128; मूल्य: 200/- रुपये।

गुले शम्भू, सुरेन्द्र आनन्द 'गाफिल'; प्रकाशक : प्रतिभा प्रकाशन, 92, एम. सी. कालोनी, भारत माता मंदिर के पास, हिसार-125005 (हरियाणा); प्रथम संस्करण: 2012; पृष्ठ: 80; मूल्य: 125/- रुपये।

India in Hind Swaraj, Devdutt: Publisher : Surendra Kumar, Secretary for Gandhi Peace Foundation, 221 & 223 Deen Dayal Upadhyaya Marg, New Delhi; Page : 48; Price : Rs. 35/-

पत्रिकाएँ :

समास-6, साहित्य, कला और सभ्यता पर एकाग्र (अ) नियतकालीन, सम्पादक : उदयन वाजपेयी; प्रकाशक : अशोक वाजपेयी, कार्यकारी न्यासी, राजा फाउण्डेशन, सी-4, 139 सफदरजग डेब्लपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली-16; समास : 6; 2012; पृष्ठ : 80; मूल्य : 60/- रुपये।

संचेतना, सृजन, संवाद एवं विचार का माध्यम, पूर्णांक 199; वर्ष 42, अंक 1; मार्च-2012 (प्रकाशित जून-2012); संपादक : महीप सिंह; मुद्रक एवं प्रकाशक : संदीप सिंह, डी.के. ऑफसेट, डीएसआईडीसी, रोहतक रोड, इंडस्ट्रियल कॉम्प्लेक्स, नांगालोई, दिल्ली-110 041; पृष्ठ : 58; मूल्य: 20/- रुपये।

अन्तरा, साहित्य और संस्कृति पर केन्द्रित पत्रिका, व्यंग्य विशेषांक, अंक-4, जून-जुलाई 2012; संपादक : नरेन्द्र दीपक; प्रकाशक : लोकहित प्रकाशन, (राष्ट्र धर्म प्रकाशन लि. का पुस्तक प्रकाशन विभाग), संस्कृति भवन, राजेन्द्र नगर, लखनऊ-226004; पृष्ठ: 64; मूल्य: 50/- रुपये।

*We Strive
to Satisfy
Our Customers*

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080

☎ 3277883 (Off.)

Regd. Office
**1/3575, Netaji Subhash Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002**

With Best Compliments

from

VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.

Administrative Office

LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office

1/3575, Netaji Subhash Marg,
Darya Ganj, New Delhi-110002
Phone Off. 3277883, 3711848